गद्य-मंजरी

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

गद्य-मंजरी

[आधुनिक ... लेखकों की चुनी हुई साहित्यिक
रचनाओं ... संग्रह]

इंटर-मीडियट कक्षा के लिए

संकलनकर्ता
विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्रकाशक
सरस्वती-मंदिर
बनारस सिटी ।

परिशोधित संस्करण १९५५] [मूल्य २)

प्रकाशक
सरस्वती-मंदिर
बनारस।

मुद्रक—
मुन्नीलाल
कल्याण प्रेस, बनारस।

निवेदन पत्र

एक साहित्य में दो प्रकार की लेखन-शैलियाँ व्यवहृत होती हैं; एक पद्य की और दूसरी गद्य की। पद्य में कविता लिखी जाती है और साहित्य की अन्य शाखाओं के लिए गद्य का व्यवहार होता है। गद्य का व्यवहार इतना बढ़ गया है कि जहाँ पहले साहित्येतर वाङ्मय पद्य में प्रस्तुत होता था, अब गद्य ही में निर्मित होता है। अतः कविता को छोड़कर साहित्य के अन्य विभागों का संबंध गद्य से ही विशेष रह गया है। नाटक से भी पद्यांश बहुत कुछ हट चुका है, उसमे प्रायः ऊपर से चिपकाए हुए कुछ गीत ही पाए जाते हैं। अतः गद्य में अब व्यक्त होनेवाले शुद्ध साहित्य का वाङ्मय इस प्रकार है—नाटक, उपन्यास, कहानी, काव्यात्मक गद्यखंड या गद्यकाव्य, निबंध और समालोचना। गद्य के विधान के विचार से उपन्यास और कहानी में कोई अंतर नहीं है। अतः गद्यांशों के संग्रह के लिए नाटक, कहानी, गद्यकाव्य, निबंध और समालोचना ये पाँच विभाग ही रह जाते हैं। इस संग्रह में नाटक और कहानी के अतिरिक्त तीन विभागों की रचनाएँ संकलित हैं। इधर निबंध के क्षेत्र में और भी कई रूप आए हैं जिनमें विशेष आकर्षक रेखाचित्र और संस्मरण हैं। उनका भी संग्रह इसमें मिलेगा।

काव्यात्मक गद्यखंड या गद्यकाव्य अधिकतर भावात्मक शैली में लिखे जाते हैं। इस शैली में दो रूप स्पष्ट लक्षित होते हैं। एक में तो यह शैली आद्यंत चलती रहती है और दूसरे में उसका भावात्मक रूप यहाँ-वहाँ दिखाई पड़ता है। पहले को धारा-रूप और दूसरे को तरंग-रूप मानना चाहिए। शैली ही नहीं, विषय के विचार से भी, भिन्नता दिखाई देती है। कहीं तो कोई व्यंजक जीवन-खंड सामने ला

दिया जाता है और कहीं किसी विशेष व्यंजना के लिए कोई जीवन-खंड चुना जाता है। राय कृष्णदास और वियोगी हरि के गद्यकाव्यों के प्रतीकों में यही अंतर है। राय साहब के प्रतीक पृथक्-पृथक् व्यंजना करते हैं, सभी प्रतीकों में एकरसता नहीं है, अतः अनेकता का सच्चा आभास मिलता है; दूसरी ओर वियोगी हरि के प्रतीक एक ही लक्ष्य को लेकर चलते हैं। वहाँ अनेकता का अभाव है तो एकत्व की अभिव्यक्ति के मार्गों में अनेकता है; सभी मार्ग वहीं पहुँचते हैं पर उनके आकार, विस्तार आदि में भेद है।

निबंध भी कई प्रकार के होते हैं। विषय और व्यक्तित्व के विचार से प्रबंध को निबंध से भिन्न मानना चाहिए। 'प्रबंध' शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ के अनुसार विषय-प्रधान बंध, जिसमें आकार का प्रकर्ष भी हो, प्रबंध कहा जाना चाहिए। पर निबंध में विषय नहीं व्यक्तित्व प्रधान रहता है और आकार का संकोच भी होता है। पहला बंध शिथिल है और दूसरा कसा। प्रकार-भेद से निबंध वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक और कथात्मक होता है। वर्णनात्मक निबंध में लेखक की दृष्टि अधिकतर वर्ण्य विषय का अधिकाधिक और पूर्ण वर्णन देने की ओर रहती है। दृश्य कहीं फुटकल और कहीं मिश्र रूप में सामने लाए जाते हैं। प्रकृति, ग्राम, नगर आदि के वर्णन इसी श्रेणी में रखे जायँगे। कोई शुद्ध रूप में होगा, कोई अलंकृत रूप में। 'श्यामापुर' में वर्णनात्मक निबंध की अधिकतर विशेषताएँ मिलेंगी। समाहार की अच्छी शक्ति और निरीक्षण की सच्ची परख उसमें दिखाई देती है।

विचारात्मक निबंधों में लेखक अनेक प्रकार के तर्कों एवम् दृष्टांतों से प्रतिपाद्य सिद्धांत का निरूपण करता है। साहित्य की कोटि में वे ही निबंध माने जाने चाहिए जिनमें बुद्धि के व्यापार के साथ-साथ हृदय के राग का भी योग हो। इस प्रकार के उत्कृष्ट निबंध आचार्य रामचंद्रजी शुक्ल ने पर्याप्त परिमाण में प्रस्तुत किए हैं। ऐसे निबंधों में दो

पद्धतियाँ देखी जाती हैं—एक निगमन की और दूसरी आगमन की। पहली में दृष्टांतों और प्रमाणों से होता हुआ लेखक सिद्धांत पर पहुँचता है और दूसरी में सिद्धांत के स्पष्टीकरण के लिए उदरहरणों के संकलन पर दृष्टि रहती है। शुक्लजी के निबंध दूसरी पद्धति पर लिखे गए हैं। इन निबंधों में सबसे ध्यान देने योग्य होती है 'व्याप्ति'। शुक्लजी जैसी व्याप्ति बनाते हैं उसके भीतर छितराया हुआ विषय सिमट आता है और फालतू आवरण पृथक् पड़ा रह जाता है।

भावात्मक निबंधों में उक्तियों का विधान मुख्य होता है। किसी भाव के अनुकूल उक्तियों की अधिकाधिक योजना कर सकने में जो लेखक समर्थ होगा उसके ऐसे निबंध विशेष उपयुक्त और हृदय-ग्राह्य होंगे। इनमें भी दो प्रकार दिखाई देते हैं; एक वे जिनमें भावानुकूल उक्तियों पर दृष्टि रहती है और दूसरे वे जिनमें कोई वर्ण्य वस्तु भावुकता के साथ सामने रखी जाती है। शास्त्रीय ढंग से विचार करने पर एक में भाव-व्यंजना पर दृष्टि रहती है और दूसरे में वस्तु-व्यंजना पर।

कथात्मक निबंध वे कहे जाएँगे जिनमें कथा की घटनाओं की अपेक्षा रचना-शैली के वैचित्र्य पर विशेष दृष्टि रहे। इतिहास, कहानी आदि से ये पृथक् होते हैं। इतिहास में घटनाओं का संकलन मात्र रहता है; वहाँ बहिरंग पर दृष्टि रहती है, अंतरंग पर नहीं। कहानी में घटनाओं का संकलन किसी विशेष परिणाम की ओर उन्मुख होता है; अंतरंग पर दृष्टि रहती है, बहिरंग पर उतनी नहीं। पर कथात्मक निबंध में कथा केवल आधार के लिए गृहीत होती है; रचना-वैचित्र्य पर ही विशेष दृष्टि रहने से उसे कहानी नहीं कह सकते। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' इसी प्रकार की रचना है।

समालोचना या समीक्षा में किसी विषय या रचना के अभ्यंतर का दर्शन कराया जाता है। श्रीराजशेखर ने इसीलिए 'अंतर्भाष्यं समीक्षा' लिखा

है। 'तीर्थ-सलिल' में विश्व-व्याप्त वाङ्मय के अभ्यंतर की झलक दिखाने का प्रयास किया गया है।

यहाँ केवल एक प्रकार के लेख का और विचार करना है जिसे 'आत्म-व्यंजक' कहना विशेष उपयुक्त जान पड़ता है। ऐसे लेखों की विशेषता यह होती है कि चाहे कोई विषय हो या कोई स्थूल विषय न भी हो, पर लेखक अपने व्यक्तित्व की छाप से उसे रोचक और रमणीय बना-कर प्रस्तुत कर देता है। जहाँ कोई विषय होता है वहाँ नाना प्रकार के आरोपों एवम् आक्षेपों से रमणीयता निष्पन्न होती है और जहाँ कोई स्थूल विषय नहीं होता वहाँ कोई विशेष परिणाम उत्पन्न करने के लिए एक ही प्रकार की अनेक युक्तियों एवम् उक्तियों का विधान करके रम-णीयता उत्पन्न की जाती है। पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'बात' नामक लेख पहले प्रकार का है और पं० केशवप्रसाद मिश्र का '?' शीर्षक लेख दूसरे प्रकार का।

यहाँ तक गद्यखंडों के संकलन में जिस दृष्टि से काम लिया गया है उसका वक्तव्य हुआ। अब हिंदी के इस गद्ययुग की विभिन्न अवस्थाओं पर भी ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पूर्व गद्य की प्रस्तावना मात्र हुई थी, वस्तुतः साहित्य में खड़ी बोली गद्य का प्रणयन उन्हीं के समय से आरंभ होता है। उन्होंने भाषा में परिष्कार और साथ ही माधुर्य का विधान करके जिस रूप का आभास दिया वही हिंदी का सच्चा रूप था। भारतेंदु बाबू के समय के लेखक एक विशेष प्रकार की सजीवता के साथ लिखा करते थे; उनकी आन-बान पृथक् पृथक् होते हुए भी एक प्रकार की एकता सबमें दिखाई देती थी। वह सजीवता पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, बाबू जगमोहन सिंह आदि सभी लेखकों में पाई जाती है।

भारतेंदु-काल के पश्चात् पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में भाषा के प्रसार, संस्कार और विषय-विस्तार की ओर लेखक मुड़े। कोई

वाग्योग का विधान लेकर चला, जैसे पं० माधवप्रसाद मिश्र; कोई संस्कार और सामग्री के संकलन में लगा, जैसे स्वयम् द्विवेदीजी।

यद्यपि पं० रामचंद्रजी शुक्ल द्विवेदीजी के समय के ही लेखक हैं, पर इनकी समीक्षाएँ जब से लोगों के सामने आईं तब से विभिन्न शैली के कुछ विशिष्ट लेखकों को छोड़कर हिंदी-साहित्य इनके प्रभाव से विशेष प्रभावित है। शुक्लजी के समय से गद्य के विभिन्न ढाँचे पृथक् पृथक् दिखाई देने लगे हैं। भाषा ने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है, शैलियाँ मँजकर निखर गई हैं। हिंदी भाषा की इस विभूति के दर्शन से मानस-नेत्रों की परितृप्ति होती है। भारतेंदु के समय या पूर्वकाल में गद्य में सरलता थी, व्यंजना के मार्ग खोले जा रहे थे। द्विवेदीजी के समय या मध्यकाल में गद्य शुद्ध साहित्य से आगे बढ़कर अन्य विषयों के वाङ्मय के अनुरूप भी बनने ठनने लगा। शुक्लजी के समय या उत्तरकाल में वह पूर्णता को प्राप्त हो गया, उसमें बहुत अधिक शक्ति और व्यंजकता आ गई।

गद्यखंडों का संग्रह तारतम्य के विचार से न करके अधिकतर क्रम के विचार से ही किया गया है, किंतु पढ़ने और पढ़ानेवाले यदि उसी क्रम से पढ़ना और पढ़ाना चाहें जिस क्रम से पुस्तक में ये गद्यांश छापे जा रहे हैं तो आरोह-अवरोह का भी विचार होना आवश्यक था। इसलिए कहीं कहीं ऐतिहासिक क्रम का विचार छोड़ दिया गया है। यों तो प्रत्येक लेखक की विशेषता उसके प्रत्येक लेख में कुछ न कुछ दिखाई ही पड़ती है, किंतु इस संकलन में इस बात का बराबर ध्यान रखा गया है कि वे ही गद्यांश लिए जायँ जिनमें लेखकों के व्यक्तित्व की छाप अधिकाधिक मात्रा में हो और जिनमें कोई शैलीगत विशेषता भी हो। पुस्तक विद्यार्थियों के निमित्त प्रस्तुत की गई है, इसलिए स्थान-स्थान पर कुछ अंश आवश्यकतानुसार काट-छाँट भी दिए गए हैं। छापे को भाषा के अनुरूप चलने और लिपि को एकरूप रखने की कड़ाई के कारण एक ही रंगीन शीशे से सबकी लिपि दिखाने का प्रयास भी किया गया है। इस

प्रकार न जाने कितनी स्वच्छंदता से काम लिया गया है। जिन लेखकों के गद्यांश इस संग्रह में छापे गए हैं उनके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं और सदुद्देश्य के नाते उनकी रचनाओं में जो उलट-फेर, काट-छाँट, सजाव-सिँगार आदि करने की धृष्टता की गई है, उसके लिए उनसे नम्रतापूर्वक क्षमा भी चाहते हैं।

इस बात की घोषणा कैसे करूँ कि यह संग्रह कैसा है, मधुव्रत जानें। यह तो साहित्योद्यान के एक विटपी की एक शाखा के वृंत में झूलती हुई, चतुर्दिक सुरभि बिखेरती हुई मंजरी है न! इसे बनानेवाला पुरुष दूसरा, इसमें सुरभि देनेवाला दाता दूसरा, इसके माली दूसरे, मैं तो इसकी सुरभि पर निछावर होनेवाला परभृत हूँ—ऋतुराज का गुणगायक मात्र। यदि मार्मिक-मधुव्रतों को इसकी सुरभि खींच लाए और वे इसमें मकरंद पा जायँ तो सारा श्रेय माली को, विटपी को, साहित्योद्यान को ही है।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सूची

गद्य-मंजरी

पहली सुरभि—

(श्री भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र)

यह सचमुच एक अद्भुत एवम् अपूर्व कल्पना है। पर इसमें केवल कल्पना का ही प्राधान्य नहीं है, एक बहुत समर्थ व्यंग्य भी है। सामाजिक प्रवृत्ति की प्रच्छन्न खरी आलोचना भी है, जो इस स्वप्न-कल्पना का प्राण है। शैली अत्यंत आकर्षक और भाषा बहुत ही परिष्कृत एवं प्रांजल है। साथ ही हास का अच्छा विधान भी असाधारण बातों के संकलन से हो गया है।

१.

एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न

आज रात्रि को पर्यंक पर जाते ही अचानक आँख लग गई। सोते मैँ सोचता क्या हूँ कि इस चलायमान शरीर का कुछ ठीक नहीँ। इस संसार मैँ नाम स्थिर रहने की कोई युक्ति निकल आवे तो अच्छा है, क्योँकि यहाँ की रीति देख मुझे पूरा विश्वास होता है कि इस चपल जीवन का क्षण-भर का भरोसा नहीँ। ऐसा कहा भी है—

स्वाँस स्वाँस पर हरि भजो बृथा स्वाँस मति खोय।
ना जाने या स्वाँस को आवन होय न होय॥

देखो समय-सागर मैँ एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायगा। काल-वश शशि-सूर्य भी नष्ट हो जाएँगे। आकाश मैँ तारे भी कुछ काल पीछे दृष्टि न आवैँगे। केवल कीर्ति-कमल संसार-सरवर मैँ रहो वा न रहो, और सब तो एक न एक दिन तप्त तवे की बूँद हुए बैठे हैँ। इस हेतु बहुत काल तक सोच समझ प्रथम यह विचारा कि कोई देवालय बनाकर छोड़ जाऊँ, परंतु थोड़ी ही देर मैँ समझ मैँ आ गया कि इन दिनोँ की सभ्यता के अनुसार इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीँ, और वह तो मुझे भली भाँति मालूम है कि यही अँगरेजी-शिक्षा रही तो मंदिर की ओर मुख फेरकर भी कोई न देखेगा। इस कारण इस विचार का परित्याग करना पड़ा। फिर पड़े पड़े पुस्तक रचने की सूझी। परंतु इस विचार मैँ बड़े काँटे निकले। क्योँकि बनाने की देर न होगी कि कीट "क्रिटिक" काटकर आधी से अधिक निगल

जायँगे। यश के स्थान, शुद्ध अपयश प्राप्त होगा। जब देखा कि अब टूटे फूटे विचार से काम न चलेगा, तब लाड़िली नींद को दो रात पड़ोसियों के घर भेज आँख बंदकर शंभु की समाधि लगा गया, यहाँ तक कि इकसठ वा इक्यावन वर्ष उसी ध्यान मैं बीत गए। अंत मैं एक मित्र के बल से अति उत्तम बात की पूँछ हाथ मैं पड़ गई। स्वप्न ही मैं प्रभात होते ही पाठशाला बनाने का विचार दृढ़ किया। परंतु जब थैली मैं हाथ डाला, तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मुहरैं निकलीं। आप जानते हैं इतने मैं मेरी अपूर्व पाठशाला का एक कोना भी नहीं बन सकता था निदान अपने इष्ट-मित्रों की भी सहायता लेनी पड़ी। ईश्वर को कोटि धन्य-वाद देता हूँ जिसने हमारी ऐसी सुनी। यदि ईंटों के ठौर मुहर चिनवा लेते तब भी तो दस पाँच रेल रुपये और खर्च पड़ते। होते होते सब हरिकृपा से बनकर ठीक हुआ। इसमैं जितना समस्त व्यय हुआ वह तो मुझे स्मरण नहीं है, परंतु इतना अपने मुंशी से मैंने सुना था कि एक का अंक और तीन सौ सत्तासी शून्य अकेले पानी मैं पड़े थे। बनने को तो एक क्षण मैं सब बन गया था, परंतु उसके काम जोड़ने मैं पूरे पैंतीस वर्ष लगे। जब हमारी अपूर्व पाठशाला बनकर ठीक हुई, उसी दिन हमने हिमालय की कंदराओं मैं से खोज-खोजकर अनेक उद्दंड पंडित बुलवाए, जिनकी संख्या पौन दशमलव से अधिक नहीं है। इस पाठशाला मैं अगणित अध्यापक नियत किए गए परंतु मुख्य केवल ये हैं—पंडित मुग्धमणि शास्त्री तर्कवाचस्पति, प्रथम अध्यापक। पाखंड-प्रिय धर्माधिकारी, अध्यापक धर्मशास्त्र। प्राणांतकप्रसाद वैद्यराज, अध्यापक वैद्यकशास्त्र। लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण,

अध्यापक ज्योतिषशास्त्र। शीलदावानल नीतिदर्पण, अध्यापक आत्मविद्या।

इन पूर्वोक्त पंडितों के आ जाने पर अर्धरात्रि गए पाठशाला खोलने बैठे। उस समय सब इष्ट-मित्रों के सन्मुख उस परमेश्वर को कोटि धन्यवाद दिया, जो संसार को बनाकर क्षण भर में नष्ट कर देता है और जिसने विद्या, शील, बल के सिवाय मान, मूर्खता, परद्रोह, परनिंदा आदि परम गुणों से इस संसार को विभूषित किया है। हम कोटि धन्यवाद-पूर्वक आज इस सभा के सन्मुख अपने स्वार्थरत चित्त की प्रशंसा करते हैं जिसके प्रभाव से ऐसे उत्तम विद्यालय की नींव पड़ी। उस ईश्वर को ही अंगीकार था कि हमारा इस पृथ्वी पर कुछ नाम रहे नहीं तो जब द्रव्य की खोज में समुद्र में डूबते डूबते बचे थे तब कौन जानता था कि हमारी कपोलकल्पना सत्य हो जायगी। परंतु ईश्वर के अनुग्रह से हमारे सब संकट दूर हुए और अंत समय, हमारी अभिलाषा पूर्ण हुई। हम अपने इष्ट-मित्रों की सहायता को कभी न भूलेंगे कि जिनकी कृपा से इतना द्रव्य आया कि पाठशाला का सब खर्च चल गया और दस-पाँच पीढ़ी तक हमारी संतान के लिए बच रहा। हमारे पुत्र-परिवार के लोग चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रहो। हे सज्जनो, यह तुम्हारी कृपा का विस्तार है कि तन-मन से आप इस धर्मकार्य में प्रवृत्त हुए नहीं मैं दो हाथ-पैरवाला बेचारा मनुष्य आपके आगे कौन कीड़ा था जो ऐसे दुष्कर कर्म को कर लेता, यहाँ तो केवल घर की मूँछें ही मूँछें थीं। कुछ मेह कुछ गंगाजल, काम आपकी कृपा से भली भाँति हो गया। मैं आज के दिन को नित्यता का प्रथम दिन मानता हूँ, जो औरों को

अनेक साधन से भी मिलना दुर्लभ है। धन्य है उस परमात्मा को जिसने आज हमारे यश के डहडहे अंकुर फिर हरे किए। हे सुजन शुभचिंतको! संसार मैँ पाठशाला अनेक हुई होँगी। परंतु हरिकृपा से जो आप लोगोँ की सकल-पूर्ण कामधेनु यह पाठशाला है वैसी अचरज नहीँ कि आपने इस जन्म मैँ न देखी सुनी हो। होनहार बलवान है, नहीँ कलिकाल मैँ ऐसी पाठशाला का बनाना कठिन था। देखिए यह हम लोगोँ के भाग्य का उदय है कि ये महामुनि मुग्ध-मणि शास्त्री बिना प्रयास हाथ लग गए, जिनको सतयुग के आदि मैँ इंद्र अपनी पाठशाला के निमित्त समुद्र और बन-जंगलोँ मैँ खोजता फिरा, अंत मैँ हार मान बृहस्पति को रखना पड़ा। हम फिर भी कहते हैँ कि यह हमारे भाग्य ही की महिमा थी कि वे ही पंडितराज मृगयाशील श्वान के मुख मैँ शश के धोखे बद्रिकाश्रम की एक कंदरा मैँ पड़ गए। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशंसा करते दिन मैँ सरस्वती भी लजाती है। इसमैँ संदेह नहीँ कि इनके थोड़े ही परिश्रम से पंडित मूर्ख और अबोध पंडित हो जायँगे। हे मित्र! मेरे निकट जो महाशय बैठे हैँ इनका नाम पंडित पाखंडप्रिय है। किसी समय इस देश मैँ इनकी बड़ी मानता थी। सब स्त्री-पुरुषोँ को इन्होँने मोह रक्खा था। परंतु अब कालचक्र के मारे अँगरेजी पढ़े हिंदुस्थानियोँ ने इनकी बड़ी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचाकर हिमालय की तराई मैँ हरित दूर्वा पर संतोष कर अपना कालक्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज था दृष्टि बचाकर भोग लगाया करते थे। कहाँ अब श्वान शृगाल के संग दिन काटने पड़े, परंतु फिर भी इनकी बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि एक

कार्तिक मास भी इनको लोग स्थिर रह जाने देँगे तो हरिकृपा से समस्त नवीन धर्मोँ पर चार-पाँच दिन मैँ पानी फेर देँगे।

इनसे भिन्न पंडित प्राणांतकप्रसाद भी प्रशंसनीय पुरुष हैँ। जब तक इस घट मैँ प्राण हैँ तब तक न किसी पर इनकी प्रशंसा बन पड़ी न बन पड़ेगी। ये महावैद्य के नाम से इस समस्त संसार मैँ विख्यात हैँ। चिकित्सा मैँ ऐसे कुशल हैँ कि चिता पर चढ़ते चढ़ते रोगी इनके उपकार का गुण नहीँ भूलता। कितना ही रोग से पीड़ित क्योँ न हो, क्षण भर मैँ स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक औषधि नहीँ देते केवल उसी समय तक प्राणी को संसार-व्यथा लगी रहती है। आप लोग कुछ काल की अपेक्षा कीजिए इनकी चिकित्सा और चतुराई अपने आप प्रकट हो जायगी। यद्यपि आपके अमूल्य समय मैँ बाधा हुई, परंतु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इस हेतु आप आतुर न हूजिए और शेष अध्यापकोँ की अमृतमय जीवन-कहानी श्रवण कीजिए।

ये लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण बड़े उद्दंड पंडित हैँ। ज्योतिष-विद्या मैँ अति कुशल हैँ। कुछ नवीन तारे भी गगन मैँ जाकर ये ढूँढ़ आए हैँ और कितने ही नवीन ग्रंथोँ की भी रचना कर डाली है। उनमैँ से 'तामिस्रमकरालय' प्रसिद्ध और प्रशंस-नीय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीँ आता, परंतु तारे इनकी आँखोँ मैँ भली भाँति बैठ गए हैँ।

रहे पंडित शीलदावानल नीतिदर्पण। इनके गुण अपार हैँ। समय थोड़ा है, इस हेतु थोड़ा सा आप लोगोँ के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बालब्रह्मचारी हैँ। अपनी आयु भर नीतिशास्त्र पढ़ते पढ़ाते रहे हैँ। इनसे नीति तो बहुत से महात्माओँ ने पढ़ी थी, परंतु वेणु, बाणासुर,

रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कंस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है तो अँगरेजी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ते हैं। हम अपने भाग्य की कहाँ तक सराहना करें! ऐसा तो संयोग इस संसार में परम दुर्लभ है। अब आप सब सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिंता न करें, क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं और दिया भी तो अभी दस-पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बँधान बाँध देंगे, नहीं यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला-संबंधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर नास लिया करें। अब रहे केवल पाठशाला के नियत किए हुए नियम सो आपको जल्दी सुनाए देता हूँ। शेष स्त्री-शिक्षा का जो विचार था, वह आज रात को हम घर पूछ लें तब कहेंगे।

नियमावली

(१) नाम इस पाठशाला का 'गगनगत अविद्यावरुणालय' होगा।

(२) इसमें केवल वंध्या और विधवा के पुत्र पढ़ने आवेंगे।

(३) डेढ़ दिन से अधिक और पौने अट्ठानवे से कमती आयु के विद्यार्थी भीतर न आने पावेंगे।

(४) सेर भर सुँघनी अर्थात् हुलास से तीन सेर तक कक्षानुसार फीस देनी पड़ेगी।

(५) दो मिनट बारह बजे रात से पूरे पाँच बजे तक पाठशाला होगी।

(६) प्रत्येक उजाली अमावस्या को भरती हुआ करेगी।

(७) पहले पक्ष मैँ स्त्री और दूसरे पक्ष मैँ बालक शिक्षा पावेँगे।

(८) परीक्षा प्रतिमास होगी, परंतु द्वितीया द्वादशी की संधि मैँ हुआ करेगी।

(९) वार्षिक परीक्षा ग्रीष्म ऋतु, माघ मास मैँ होगी। उसमैँ जो पूरे उतरेँगे वे उच्च पद के भागी होँगे।

(१०) इस पाठशाला मैँ प्रथम पाँच कक्षा होँगी और प्रत्येक ऋतु के अंत मैँ परीक्षा लेकर नीचेवाले ऊपर की कक्षा मैँ भर दिए जायँगे।

(११) प्रतिपदा और अष्टमी भिन्न, एक अमावस्या को स्कूल और खुलेगा, शेष सब दिन बंद रहेगा।

(१२) किसी को काम के लिए छुट्टी न मिलेगी, और परोक्ष होने मैँ पाँच मिनट मैँ दो बार नाम कटेगा।

(१३) कुछ भी अपराध करने पर चाहे कितना भी तुच्छ हो 'इंडियन पिनल कोड' अर्थात् ताजीरात हिंद के अनुसार दंड दिया जायगा।

(१४) मुहर्रम मैँ एक साल पाठशाला बंद रहेगी।

(१५) मलमास मैँ अनध्याय के कारण नृत्य और संगीत की शिक्षा दी जायगी।

(१६) छल, निंदा, द्रोह, मोह आदि भवसागर के चतुर्दश कोटि रत्न घोलकर पिलाए जाया करेँगे।

(१७) इसका प्रबंध धूर्तवंशावतंस नाम जगतविदित महाशय करेँगे।

(१८) नीचे लिखी हुई पुस्तकेँ पढ़ाई जाएँगी—

व्याकरण—मुग्धमंजरी, शब्दसंहार, अज्ञानचंद्रिका।

धर्मशास्त्र—वंचकवृत्तिरत्नाकर, पाखंड-विडंबन, अधर्मसेतु।

वैद्यक—मृत्युचिंतामणि, मनुष्यधनहरण, कालकुठार।

ज्यौतिष—मुहूर्तमिथ्यावली, मूर्खाभरण, गणितगर्वांकुर।

नीतिशास्त्र—नष्टनीतिदीप, अनीतिशतक, धूर्तपंचाशिका। इन दिनों की सभ्यता के मूल ग्रंथ—असत्यसंहिता, दुष्टचरितामृत, भ्रष्टभास्कर।

कोश—कुशब्दकल्पतरु, शून्यसागर।

नवीन नाटक—स्वार्थसंग्रह, कृतघ्नकुलमंडन।

अब जिस किसी को हमारी पाठशाला मैं पढ़ना अंगीकार हो, यह समाचार सुनने के प्रथम, तार मैं खबर दें। नाम उसका किताब मैं लिख लेंगे, पढ़ने आओ चाहे मत आओ।

———

दूसरी सुरभि—

(श्री पं० प्रतापनारायण मिश्र)

इस निबंध में लेखक ने 'बात की करामात' दिखलाई है। आत्मव्यंजक निबंधों में लेखक अपनी 'व्याप्ति' द्वारा शब्द-लक्षण प्रस्तुत करता है और उसके भीतर न जाने कितनी बातें खींच लेता है। यहाँ लेखक ने 'बात' के स्वरूप-लक्षण में इसी व्याप्ति का चमत्कार दिखाया है। बोलचाल, वाग्योग (मुहावरे) और लोकोक्ति तीनों का विधान करके शैली का एक ऐसा वैशिष्ट्य उत्पन्न किया गया है जो भारतेंदु-काल के ऐसे लेखकों में बराबर दिखाई पड़ता है। मिश्रजी में चलतापन और चमत्कार की प्रवृत्ति सबसे अधिक है। विनोदवृत्ति का निरालापन और मस्ती से भरा ढंग इनकी अपनी विशेषता है। मिश्रजी में समाहार की रुचि थी, विश्लेषण की उतनी नहीं। इनमें चपलता का बहुत अधिक योग दिखाई देता है जो आलंकारिकता लिए रहता है।

२.

बात

यदि हम वैद्य होते तो कफ और पित्त के सहवर्ती बात की व्याख्या करते तथा भूगोलवेत्ता होते तो किसी देश के जल-बात का वर्णन करते, किंतु इन दोनोँ विषयोँ मैँ से हमैँ एक बात के कहने का भी प्रयोजन नहीँ है। हम तो केवल उसी बात के ऊपर दो चार बातँ लिखते हैँ जो हमारे तुम्हारे संभाषण के समय मुख से निकल-निकल के पर-पर-हृदयस्थ भाव को प्रकाशित करती रहती है। सच पूछिए तो इस बात की भी क्या बात है जिसके प्रभाव से मानव-जाति समस्त जीवधारियोँ की शिरो-मणि—अशरफुलमखलूकात कहलाती है। शुक-सारिकादि पक्षी केवल थोड़ी सी समझने योग्य बातँ उच्चारित कर सकते हैँ। इसी से अन्य नभचारियोँ की अपेक्षा आदृत समझे जाते हैँ। फिर कौन न मान लेगा कि बात की बड़ी बात है। [हाँ, बात की बात इतनी बड़ी है कि परमात्मा को लोग निराकार कहते हैँ तो भी इसका संबंध उसके साथ लगाए रहते हैँ। वेद 'ईश्वर का वचन' है, कुरानशरीफ 'कलामुल्लाह' है, होली बाइबिल 'वर्ड आफ् गॉड' है; यह वचन, कलाम और वर्ड बात ही के पर्याय हैँ जो प्रत्यक्ष मैँ मुख के बिना स्थित नहीँ रह सकती, पर बात की महिमा के अनुरोध से सभी धर्मावलंबियोँ ने "बिन बानी वक्ता बड़ योगी" वाली बात मान रक्खी है। यदि कोई न माने तो लाखोँ बातँ बना के मनाने पर कटिबद्ध रहते हैँ। यहाँ तक कि प्रेम-सिद्धांती लोग निरवयव नाम से मुँह बिचकावँगे, "अपाणि-पादो जवनो ग्रहीता" पर हठ करनेवाले को यह कहकर बातोँ

मैं उड़ावेंगे कि "हम लँगड़े-लूले, हमारा प्यारा तो कोटि-काम-सुंदर श्यामवर्ण-विशिष्ट है।" निराकार शब्द का अर्थ श्री शालिग्राम शिला है जो उसकी श्यामता का द्योतन करती है अथवा योगाभ्यास करनेवाले को आँखें मूँदने पर जो कुछ पहले दिखाई देता है वह निराकार अर्थात् बिलकुल काला रंग है। सिद्धांत यह कि रंग-रूप-रहित रंग को सब-रंग-रंगित एवं अनेक-रूप-सहित ठहरावेंगे किंतु कानों अथवा प्रानों वा दोनों को प्रेमरस से सिंचित करनेवाली उसकी मधुर मनोहर बातों के मजे से अपने को वंचित न करने देंगे! जब परमेश्वर तक बात-का प्रभाव पहुँचा हुआ है तो हमारी कौन बात रही? हम लोगों को तो 'गात माँहि बात करामात' है, नाना शास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य, कोश इत्यादि सब बात ही के फैलाव हैं। जिनके मध्य एक-एक बात ऐसी पाई जाती है जो मन, बुद्धि, चित्त को अपूर्व दशा में ले जानेवाली अथवा लोक-परलोक में सब बात बनानेवाली है। यद्यपि बात का कोई रूप नहीं बतला सकता कि कैसा है पर बुद्धि दौड़ाइए तो ईश्वर की भाँति इसके भी अगणित ही रूप पाइएगा। बड़ी बात, छोटी बात, सीधी बात, टेढ़ी बात, खरी बात, खोटी बात, मीठी बात, कड़वी बात, भली बात, बुरी बात, सुहानी बात, लगती बात इत्यादि सब बात ही तो हैं! बात के काम भी इसी भाँति अनेक देखने में आते हैं। प्रीति-बैर, सुख-दुख, श्रद्धा-घृणा, उत्साह-अनुत्साहादि जितनी उत्तमता और सहजतया बात के द्वारा विदित हो सकते हैं दूसरी रीति से वैसी सुविधा ही नहीं। यहीं घर बैठे लाखों कोस का समाचार मुख और लेखनी से निर्गत बात ही बतला सकती है। डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में, चाहे जहाँ की जो बात हो, जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त

बात बनती हैं, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। 'बातहिं हाथी पाइए बातहिं हाथी पाँव"—बात ही से पराये अपने और अपने पराये हो जाते हैं। मक्खीचूस उदार तथा उदार स्वल्पव्ययी, कापुरुष युद्धोत्साही एवं युद्धप्रिय शांति-श्लोक, कुमार्गी, सुपथगामी, अथच सुपंथी-कुराही इत्यादि बन जाते हैं। बात का तत्त्व समझना हरएक का काम नहीं है और दूसरों की समझ पर आधिपत्य जमाने योग्य बात गढ़ सकना ऐसों वैसों का साथ नहीं है। बड़े-बड़े विज्ञवरों तथा महा-महाकवीश्वरों के जीवन बात ही के समझने और समझाने में व्यतीत हो जाते हैं। सहृदयगण की बात के आनंद के आगे सारा संसार तुच्छ जँचता है। बालकों की तोतली बातें, मंदिरियों की मीठी मीठी प्यारी प्यारी बातें, सत्कवियों की रसीली बातें, सुवक्ताओं की प्रभावशालिनी बात, जिसके जी को और का और न कर दें उसे पशु नहीं पाषाण-खंड कहना चाहिए, क्योंकि कुत्ते, बिल्ली आदि को विशेष समझ नहीं होती तो भी पुचकार के तू-तू पूसी-पूसी इत्यादि बातें कह दो तो भावार्थ समझ के यथा-सामर्थ स्नेह-प्रदर्शन करने लगते हैं। फिर वह मनुष्य कैसा जिसके चित्त पर दूसरे हृदयवान् की बात का असर न हो। बात वह आदरणीय बात है कि भलेमानस बात और बाप को एक समझते हैं। हाथी के दाँत की भाँति उनके मुख से एक बार कोई बात निकल आने पर फिर कदापि नहीं पलट सकती। हमारे परम पूजनीय आर्यगण अपनी बात का इतना पक्ष करते हैं कि "तन तिय तनय धाम धन धरनी; सत्यसंध कहँ तृन सम बरनी" अथच "प्रानन तें सुत अधिक है, सुत तें अधिक परान, ते दूनो

दशरथ तजे बचन न दीन्हों जान" इत्यादि उनकी अक्षरसंबद्धा कीर्ति सदा संसार-पत्रिका पर सोने के अक्षरों से लिखी रहेगी, पर आजकल के बहुतेरे भारत-कुपुत्रों ने यह ढंग पकड़ रक्खा है "मर्द की जबान और गाड़ी का पहिया चलता ही फिरता है"। आज और बातें हैं कल ही स्वार्थांधता के वश हुजूरों की मर्जी के मुवाफिक दूसरी बातें हो जाने में तनिक भी विलंब की संभावना नहीं है। यद्यपि कभी-कभी अवसर पड़ने पर बात के कुछ अंश का रंग-ढंग परिवर्तित कर लेना विरुद्ध नहीं है, पर कब? जात्योपकार, देशोद्धार आर्यकुल-रत्नों के अनुगमन की सामर्थ्य नहीं है किंतु हिंदुस्तानियों के नाम पर कलंक लगाने को भी सहमार्गी बनने में घिन लगती है। इससे यह रीति अंगीकार कर रक्खी है कि चाहे कोई बड़ा बतकहा अर्थात् बातूनी कहे, चाहे यह समझे कि बात करने का भी शऊर नहीं है किंतु अपनी मति के अनुसार ऐसी बातें बनाते रहना चाहिए जिनमें कोई न कोई किसी न किसी के वास्तविक हित की बात निकलती रहे, पर खेद है कि हमारी बातें सुननेवाले उँगुलियों ही पर गिनने भर को हैं। इससे बात-बात में बात निकालने का उत्साह नहीं होता। अपने जी की क्या बने बात जहाँ बात बनाए न बने इत्यादि विदग्धालापों की लेखनी से निकली हुई बातें सुना के कुछ फुसला लेते हैं और बिन बात की बात को बात का बतबढ़ समझ के बहुत बात बढ़ाने से हाथ समेट लेना ही समझते हैं कि अच्छी बात है।

———

स्वामी प्रकाशानन्द

तीसरी सुरभि—

(श्री पं० बालकृष्ण भट्ट)

आत्मनिर्भरता पर जिस आवेश से भट्टजी ने विचार किया है वह उनकी शैली की विशेषता है। इनमें खीझ को एक ढंग से व्यक्त करने की बहुत बड़ी शक्ति थी। आपके विचार से भारत की अवनति का केवल एक कारण है, और वह है आत्मनिर्भरता का अभाव। न हम आत्मनिर्भर हैं, न लड़कों को आत्मनिर्भर बनाते हैं और न उन्हें उस प्रकार की शिक्षा ही दी जाती है। बाल-विवाह ही बतलाता है कि हम अपनी संतति को परमुखापेक्षी बनाने के लिए बेड़ियाँ पहना रहे हैं। इनकी भाषा में सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग है—अरबी-फारसी के भी चलते शब्दों का और कहीं कहीं अँगरेजी के चलते शब्दों का भी। ऐसी आवेशपूर्ण शैली अन्य लेखकों में नहीं दिखलाई पड़ती।

३.

आत्मनिर्भरता

अत्मनिर्भरता (अपने भरोसे पर रहना) ऐसा श्रेष्ठ गुण है कि जिसके न होने से पुरुष मैं पौरुषत्व का अभाव कहना अनुचित नहीं मालूम होता । जिनको अपने भरोसे का बल है, वे जहाँ होंगे, जल मैं तूँबी के समान सबके ऊपर रहैंगे । ऐसों ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने कहा है—

"लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यत:"

अर्थात् तेज और प्रताप से संसार-भर को अपने नीचे करते हुए ऊँची उमंगवाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नहीं बढ़ाना चाहते। शारीरिक बल, चतुरंगिणी सेना का बल, प्रभुता का बल, ऊँचे कुल मैं पैदा होने का बल, मित्रता का बल, मंत्र-तंत्र का बल इत्यादि जितने बल हैं, निज बाहुबल के आगे सब क्षीण-बल हैं, वरन् आत्मनिर्भरता की बुनियाद यह बाहुबल सब तरह के बल को सहारा देनेवाला और उभारने वाला है। योरप के देशों की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य-जाति के सिरताज हो रहे हैं, इसका यही कारण है कि उन-उन देशों मैं लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते हैं। हिंदोस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गए। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगों से जैसी खूबसूरती के साथ बन पड़ती है, वैसा स्वामित्व नहीं। अपने भरोसे पर रहना जब हमारा गुण नहीं, तब क्यों-कर संभव है कि हमारे मैं प्रभुत्व-शक्ति को अवकाश मिले।

निरी क़िस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते हैं जो आलसी हैं। किसी ने अच्छा कहा है—

"दैव-दैव आलसी पुकारै।"

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्हीं का होता है, जो अपनी सहायता अपने आप कर सकते हैं। अपने आप अपनी सहायता करने की वासना आदमी में सच्ची तरक्की की बुनियाद है। अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनी इसका उदाहरण तो है ही वरन् प्रत्येक देश या जाति के लोगों में बल और ओज तथा गौरव और महत्त्व (National vigour and strength) के आने का आत्मनिर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने में आता है कि किसी काम के करने में बाहरी सहायता इतना लाभ नहीं पहुँचा सकती, जितनी आत्मनिर्भरता। समाज के बंधन में भी देखिए, तो बहुत तरह के संशोधन सरकारी क़ानूनों के द्वारा वैसे नहीं हो सकते, जैसे समाज के एक-एक मनुष्य का अलग-अलग अपना संशोधन अपने आप करने से हो सकते हैं। कड़े-से-कड़ा क़ानून आलसी-समाज को परिश्रमी, अपव्ययी या फ़िज़ूलखर्च को किफ़ायतसार या परिमित-व्ययशील, शराबी को परहेजगार, क्रोधी को शांत या सहनशील, सूम को उदार, लोभी को संतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पांध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी को आढ्य, भीरु डरपोक को वीरधुरीण, झूठे गपोड़िए को सच्चा, चोर को सहन-शील, व्यभिचारी को एकपत्नी-व्रतधर इत्यादि नहीं बना सकता, किंतु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं। सच पूछो, तो जाति या कौम भी सुधरे हुए ऐसे एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति के एक-एक आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुधारें, तो जाति-की-जाति या समाज-का-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबालवृद्ध, वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाए जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वही जाति अर्द्धशिक्षित कहलाती है। कौमी तरक्की भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता सुचाल और सौजन्य का मानों टोटल है। उसी तरह कौम की तनज्जुली कौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थ-परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसा सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरापन। जातीय गुणों या अव-गुणों को गवर्नमेंट कानून के द्वारा रोक दे या जड़पेड़ से नेस्त-नाबूद कर दे, परंतु वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ फिर से उभड़ आवेंगे, वरन् पहले से ज्यादा तरोताजगी और सरसब्जी की हालत में हो जायँगे। जब तक किसी जाति के हर एक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक अव्वल दरजे के देशानुराग और सर्वसाधारण के हित की वांछा सिर्फ कानून के अदल-बदलपन से या नए कानून जारी करने से नहीं पैदा हो सकती। जालिम-से-जालिम बादशाह की हुकूमत में भी रहकर कोई कौम गुलाम नहीं कही जा सकती वरन् गुलाम वही कौम है, जिसमें एक-एक व्यक्ति सब भाँति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी कौम जिसकी नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी तरक्की नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय। तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता की गहरी और मजबूत नींव उस देश के एक-एक आदमी के आत्मनिर्भरता आदि गुणों पर स्थित है। ऊँचे-से-ऊँचे दरजे की तालीम बिलकुल बेफायदा

है, यदि हम अपने ही सहारे अपनी बेहतरी न कर सकेँ। जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धांत है कि "राजा का भयानक-से-भयानक अत्याचार देश पर कभी कोई बुरा असर नहीँ पैदा कर सकता, जब तक उस देश के एक-एक व्यक्ति मेँ अपने सुधार की अटल वासना दृढ़ता के साथ बद्धमूल है।"

पुराने लोगोँ से जो चूक और गलती बन पड़ी है, उसी का नतीजा वर्तमान समय मेँ हम लोग भुगत रहे हैँ। उसी को चाहे जिस नाम से पुकारिए—यथा जातीयता का भाव जाता रहा, एका नहीँ है, आपस की हमदर्दी नहीँ है इत्यादि। तब पुराने क्रम को अच्छा मानना और उस पर श्रद्धा जमाए रखना हम क्योँकर अपने लिए उपकारी और उत्तम मानेँ। हम तो इसे निरी चंडूखाने की गप समझते हैँ कि—"हमारा धर्म हमेँ आगे नहीँ बढ़ने देता, अथवा विदेशी राज से शासित हैँ, इसी से हम तरक्की नहीँ कर सकते।" वास्तव मेँ सच पूछो, तो आत्मनिर्भरता अर्थात् अपनी सहायता अपने आप करने का भाव हमारे बीच है ही नहीँ। यह सब हमारी वर्तमान दुर्गति का परिणाम है, बुद्धिमानोँ का अनुभव हमेँ यही कहता है कि मनुष्य मेँ पूर्णता विद्या से नहीँ, वरन् काम से होती है। प्रसिद्ध पुरुषोँ की जीवनी पढ़ने ही से नहीँ, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी पुरुषोँ के चरित्र का अनुकरण करने से मनुष्य मेँ पूर्णता आती है। योरप की सभ्यता, जो आजकल हमारे लिए प्रत्येक उन्नति की बातोँ मेँ उदाहरण-स्वरूप मानी जाती है, एक दिन या एक आदमी के काम का परिणाम नहीँ है। जब कई पुश्त तक देश-का-देश ऊँचे काम, ऊँचे ख्याल और ऊँची वासनाओँ की ओर प्रबल-चित्त रहा, तब वे इस अवस्था को पहुँचे हैँ। वहाँ

के हर एक फिरके, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन बाँध के बराबर अपनी-अपनी तरक्की मैं लगे हैँ। नीचे-से-नीचे दरजे के मनुष्य—किसान, कुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दरजेवाले—कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ (Politician) सबों ने मिलकर कौमी तरक्की को इस दरजे तक पहुँचाया है। एक ने एक बात को आरंभ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया, दूसरे ने उसी ढाँचे पर साबित-कदम रह एक दरजा और बढ़ाया; इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढ़ी के उपरांत वह बात जिसका केवल ढाँचा-मात्र पड़ा था, पूर्णता और सिद्ध अवस्था तक पहुँच गई। ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया भर मैँ धूम मची है, इसी तरह शुरू किए गए थे, और ढाँचा छोड़नेवाले पूर्वपुरुष अपनी भाग्यवान् भावी संतान को उस शिल्प-कौशल और विज्ञान की बड़ी भारी मीरास या बपौती का उत्तराधिकारी बना गए।

आत्मनिर्भरता या "अपने आप अपनी सहायता" के संबंध मैँ जो शिक्षा, हमैँ खेतिहर, दूकानदार, बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों से मिलती है, उसके मुकाबले मैँ स्कूल और कालेजों की शिक्षा कुछ नहीँ है; और यह शिक्षा हमैँ पुस्तक या किताबों से नहीँ मिलती, वरन् एक-एक मनुष्य के चरित्र, आत्मदमन, दृढ़ता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने से मिलती है। इन सब गुणों से हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य-जाति की उन्नति का छोर है, और हमैँ जन्म ले क्या करना चाहिए, इसका सारांश है।

बहुतेरे सत्पुरुषों के जीवन-चरित्र धर्म-ग्रंथ के समान हैँ, जिनके पढ़ने से हमैँ कुछ-न-कुछ उपदेश जरूर मिलता है। बड़प्पन किसी जाति-विशेष या खास दरजे के आदमियों के

हिस्से में नहीं पड़ा। जो कोई बड़ा काम करे या जिससे सर्व-साधारण का उपकार हो, वही बड़े लोगों की कोटि में आ सकता है। वह चाहे गरीब-से-गरीब या छोटे-से-छोटे दरजे का क्यों न हो, बड़े से बड़ा है। वह मनुष्य के तन में साक्षात् देवता है। हमारे यहाँ अवतार ऐसे ही लोग हो गए हैं। सबेरे उठ जिनका नाम ले लेने से दिन भर के लिए मंगल की गारंटी समझी जाती है, ऐसे महामहिमशाली जिस कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों ही की जननी वीरप्रसू कही जाती हैं। पुरुषसिंह ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीदड़ों की खाशियत वाले सौ पुत्र भी किस काम के ? पुत्र-जन्म में लोग बड़ी खुशी मनाते हैं, शहनाई बजवाते हैं, फूले नहीं समाते। हमें पछतावा और दुःख होता है कि जहाँ तीस करोड़ गीदड़ थे, वहाँ एक गिनती और बढ़ी; क्योंकि हिंदोस्तान की हमारी बिगड़ी गिरी कौम में सिंह का जन्मना सर्वथा असंभव सा प्रतीत होता है, और न हम लोगों के ऐसे पुण्य के काम हैं कि हमारे बीच सब सिंह-ही-सिंह जन्म लें। तब हमारी इतनी अधिक बढ़ती जैसी बाल्य-विवाह की कृपा से हो रही है, किस काम को ? सिवा इसके कि हिंदोस्तान की पृथ्वी का बोझ बढ़ता जाय। समाज में ऐसे-ऐसे कुसंस्कार और निंदित रीतियाँ चल पड़ी हैं कि आत्मनिर्भरता पास तक नहीं फटकने पाती। बहुत तरह के समाज-बंधन तथा खान-पान आदि की कैद, जो हमारे पीछे लगा दी गई है, उन सबका यही तो परिणाम हुआ कि आजादी, जिस पर आत्मनिर्भरता या किसी दूसरे पौरुषेय गुण की लंबी-चौड़ी इमारत खड़ी हो सकती है, शुरू ही से नहीं आने पाती। जब कि योरप के भिन्न-भिन्न देशों में मा-बाप अपने लड़कों को तालीम देने के साथ-ही-साथ अपने भरोसे पर जिंदगी

की किश्ती को किस तरह पर खे ले जाना चाहिए, यह लड़कपन से सिखाते हैं, तब यहाँ दुधमुहे बालक-बालिकाओं का व्याह कर स्वयं अपने भरण-पोषण तथा अन्य समस्त पौरुषेय गुण की जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने का प्रयत्न किया जाता है। योरप के देशों में पिता पुत्र को शक्तिभर उत्तम से उत्तम शिक्षा दे उसे संग्राम के लिए तैयार कर देता है, जिसमें वह अपने आप निर्वाह कर सके। वहाँ के मा-बाप हम लोगों के मा-बाप की तरह अपने पुत्र के मित्रमुख शत्रु नहीं हैं कि बिना सोचे समझे लड़कपन से चक्की का पाट गले में बाँध उस बेचारे को सब तरह पर हीन, दीन और लाचार कर डालें और आप भी चिता पर पहुँचने तक लड़कों की फिकर से सुचित न रहें। इतिहास से पूरा पता लगता है कि जब से यहाँ ब्रह्मचर्य की प्रथा उठा दी गई है और दुधमुहों का व्याह जारी कर दिया गया, तब से आज तक बराबर हमारी घटती ही होती जाती है। हम तो यही कहेंगे कि जैसा पाप हमसे बन पड़ता है, उसके मुकाबले में हमें कुछ भी दंड नहीं मिलता। दस या बारह वर्ष की कन्याओं के विवाह-रूपी महापाप की इतनी सजा मिली तो कुछ न हुआ। अस्तु, हमारे में आत्मनिर्भरता न होने का बाल्य-विवाह एक बहुत बड़ा प्रधान कारण है। इसी का फल है कि हम नया कुआँ खोद नया स्वच्छ पानी पीना जानते ही नहीं।

हमारे देश की कुल आबादी के दस हिस्से में से आठ हिस्सा ऐसा है, जो केवल बाप-दादों की कमाई या परंपराप्राप्त जीविका अथवा बृत्ति से निर्वाह करता है। सौ में एक ऐसे मिलेंगे, जो अपने निज बाहुबल और पुरुषार्थ के भरोसे हैं, सो भी उनके सब पुरुषार्थ, करतूत या सपूती का निचोड़ केवल इतना ही है, जैसा किसी कवि ने कहा है—

"अन्नपानजिता दारा सफलं तस्य जीवनम् ।"

अर्थात् सफल जीवन उसी का है, जिसने अन्न-वस्त्र से अपने लड़के और स्त्री को प्रसन्न कर रखा है। इतना जिसने किया, वह पक्का सपूत और पुरुषार्थी है।

इधर पचास-साठ वर्षों से अँगरेजी राज्य के अमन-चैन का फायदा पा हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके, वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह कर पहले से ड्योढ़ी-दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जन-संख्या अवश्य घटनी चाहिए और उसके घटाने का सुगम उपाय केवल बाल्य-विवाह का रुक जाना है। गवर्नमेंट को चाहिए कि वह बाल्य-विवाह को जुर्म में दाखिल कर पूरे सिन पर आने के पहले जो अपनी कन्या या पुत्र का विवाह करे, उसके लिए कोई भारी सजा या जुर्माना कायम कर दे। तब कदाचित् यह बुराई हम लोगों में से दूर हो, नहीं तो सीधी तरह से ये कभी राह पर नहीं आने-वाले हैं। आत्मनिर्भरता में दृढ़, अपने कूवते-बाजू पर भरोसा रखनेवाली, पुष्टवीर्य, पुष्टबल, भाग्यवान एक संतान अच्छी, कूकर-सूकर से निकम्मे, रग-रग में दास-भाव से पूर्ण, परभाग्यो-पजीवी दस किस काम के ?

"एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम् ।"

आदमी के लिए आजादी एक बेशकीमती मोती है। वह आजादी तभी हासिल हो सकती है, जब हम अनेक तरह की फिक्र और चिंता से निर्द्वंद्व हो और हमारी तबियत में आत्म-निर्भरता ने दखल कर लिया हो। इस दशा में बड़ी-से-बड़ी चिंता और फिक्र हमें उतनी असह्य न मालूम होगी कि वह हमारी स्वच्छंदता को जड़ से उखाड़ सके। किसी वस्तु का जब बीज बना रहता है, तो उसको फिर बढ़ा लेना सहज है।

आत्मनिर्भरता की योग्यता संपादन किए विना ही हम लोगों के मा-बाप लड़कपन मैं अपने लड़कों का व्याह कर यावज्जीवन के लिए उनकी स्वच्छंदता का बीज नष्ट कर देते हैं। उपरांत उनका शेप जीवन बोझ और अपाढ़ हो जाता है। इँगलैंड और अमेरिका, जो इस समय उन्नति के शिखर पर चढ़े हैं, सो इसलिए कि वहाँ गृहस्थी करना हर एक आदमी की इच्छा पर निर्भर है। वहाँ मा-बाप को कोई अधिकार नहीँ रहता कि निरे नाबालिक का व्याह कर दें। यही सबब है कि उन-उन देशों मैं प्रायः सभी बड़प्पन का दावा कर सकते हैं। हमारे यहाँ भी शंकर, नानक, कबीर, कृष्ण, चैतन्य, बुद्धदेव तथा हाल मैं स्वामी दयानंद, जिनका बड़प्पन हम लोग मुक्त-कंठ हो स्वीकार करते हैं और जिनका नाम लेते चित्त गद्गद हो जाता है, सब-के-सब गृहस्थी के बोझ से स्वच्छंद थे। आत्मनिर्भरता इन महापुरुषों मैं पूरा प्रभाव रखती थी। किसी का मत है—मुल्क की तरक्की औरतों की तालीम से होगी, कोई कहता है—विधवा-विवाह जारी होने से भलाई है, कोई कहता है—खाने-पीने की कैद उठा दी जाय, तो हिंदू लोग स्वर्ग पहुँच इंद्र का आसन छीन लें, कोई कहता है—विलायत जाने से तरक्की होगी, कोई कहता है—फिजूलखर्ची कम कर दी जाय, तो मुल्क अभी तरक्की की सीढ़ी पर लपक के चढ़ जाय। हम कहते हैं—इन सब बातों से कुछ न होगा, जब तक बाल्य-विवाहरूपी कोढ़ हमारा साफ न होगा। हम जानते हैं, हमारा यह रोना-भीखना केवल अरण्यरोदन-मात्र है; फिर भी गला फाड़-फाड़ चिल्लाते रहेंगे, कदाचित् किसी की तबियत पर कुछ असर पैदा हो जाय और आत्मनिर्भरता-ऐसे श्रेष्ठ गुण को हम लोगों के बीच भी प्रकट होने का अवकाश मिले।

चौथी सुरभि--

(श्री बाबू जगमोहन सिंह)

अपने 'श्यामा-स्वप्न' नाम के उपन्यास में लेखक ने कई रसपूर्ण वर्णन रखे हैं। इनमें से 'श्यामापुर' का वर्णन सबसे उत्कृष्ट जान पड़ता है। 'कादंबरी' की पद्धति का अनुसरण होते हुए भी सहज अनुप्रास एवम् सुबोध अलंकारों के अतिरिक्त और किसी भद्दे आलंकारिक चमत्कार का विधान न होने से इनके वर्णन बहुत ही स्वाभाविक हैं। गद्य के क्षेत्र में प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण हिंदी के इसी लेखक में देखने को मिलता है। गाँव की परिस्थिति और वहाँ के निवासियों का भी उसी भावुकता से वर्णन किया गया है जिससे प्रकृति का। भाषा बहुत ही चलती और शैली दूर तक उलझी हुई वाक्यावली के बीच भी बहुत ही प्रसन्न और प्रसादपूर्ण है। शब्दों की माधुरी, दृश्यों की मनोहरता और निरीक्षण की सचाई से इनका वर्णन परिपूर्ण है। चित्रांकन की रेखाएँ इतनी स्पष्ट हैं कि एक रूप खड़ा हो जाता है।

४.

श्यामापुर

भारतखंड मैँ अनेक खंड हैँ, पर आर्यावर्त सा मनोहर और कोई देश नहीँ, पृथ्वी के अनेक द्वीप-द्वीपांतर, एक से एक विचित्र, जिनका चित्र ही मन को हरे लेता है वर्तमान हैँ, पर आर्यावर्त सी पुण्यभूमि न तो आँखोँ देखी और न कानोँ सुनी। इसके उत्तर भाग की सीमा मैँ हिमालय सा ऊँचा पर्वत, जो पृथ्वी के मानदंड के सदृश है, भूलोक मात्र मैँ ऐसा दूसरा नहीँ। गंगा और यमुना सी पावन नदी कहाँ हैँ जिनके जल साक्षात् अमृतत्व को पहुँचानेवाले हैँ ?

[त्रिपथगा की, जो आकाश, पाताल और मर्त्य-लोक को तारती है, कौन समता कर सकता है ? सुर और असुरोँ के मुकुट-कुसुमोँ की रजराजि की परिमलवाहिनी, पितामह के कमंडलु की धर्मरूपी द्रवधारा, धरातल मैँ सैकड़ोँ सगरसुतोँ को सुरनगर पहुँचाने की पुण्यडोरी, ऐरावत के कपोल घिसने से जिसके तट के हरिचंदन से तरुवर स्यंदन होकर सलिल को सुरभित करते हैँ, गंध से अंध हुई भ्रमरमाला, छंदोविचिति की मालिनी, अंधतमसा-रहित भी तमसा के सहित भगवती भागीरथी हिमाचल की कन्या सी जगत् को पवित्र करती हुई, नरक से नरकियोँ को निकालती इस असार संसार की असारता को सार करती हैँ।] भगवान् मदनमथन के मौलि की मालती की सुमनमाला, हालाहलकंठवाले के काले बालोँ की विशाल जाला, पाला के पर्वत से निकलकर सहस्र कोसोँ बहती विष्णु से जगद्व्यापक सागर से मिलती रहती है, इसकी महिमा कौन कह सकता है ?

यम की छोटी बहिन यमुना से सख्यता करने से यमराज-

नगर के नरकादि-बंदियों को मुक्ति कराने में कुछ प्रयास नहीं होता। प्रयागराज में यमुना की सहचारी होकर इस भाव को दरसाती है, इसका समागम इस स्थल पर उनकी श्याम और सेत सारी से प्रकट होता है।

इसके दक्षिण विंध्याचल सा अचल उत्तर और दक्षिण को नापता भगवान् अगस्त्य का किंकर दंडवत् करता हुआ विराजमान है, इसके पुण्य चरणों को धोती मोती की माला की नाईं मेकलकन्यका वहती है। यह पश्चिमवाहिनी, जिसकी सबसे विलग गति है, अपनी बहिन तापती के साथ होकर विंध्य के कंदरों की दरी में तप करती, सूर्य के ताप से तापित, सौतों के सदृश अपने बहुवल्लभ सागर से जा मिलती है। इसी नर्मदा के दक्षिण दंडकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल के नाम से प्रसिद्ध है।

याही मग ह्वै कै गए दंडक-वन श्रीराम।
तासों पावन देश यह विंध्याटवी ललाम॥

मैं कहाँ तक इस सुंदर देश का वर्णन करूँ? कहीं कहीं कोमल श्याम, कहीं भयंकर और रूखे सूखे वन, कहीं झरनों का झंकार, कहीं तीर्थ के आकार मनोहर मनोहर दिखाते हैं। कहीं कोई बनैला जंतु प्रचंड स्वर से बोलता है, कहीं कोई मौन ही होकर डोलता है। कहीं विहंगमों का रोर, कहीं निष्कूजित कुंजों के छोर, कहीं नाचते हुए मोर, कहीं विचित्र तमचोर, कहीं स्वेच्छाहार विहार करके सोते हुए अजगर, जिनका गंभीर घोष कंदरों में प्रतिध्वनित हो रहा है। कहीं भुजगों की स्वास से अग्नि की ज्वाला प्रदीप्त होती है, कहीं बड़े बड़े भारी भीम भयानक अजगर सूर्य की किरणों में घाम लेते हैं, जिनके प्यासे मुखों पर झरनों के कनूके पड़ते हैं, शोभित हैं।

जहाँ की निर्झरनी, जिनके तीर वानीर के भिरे मदकल-

कूजित विहंगमों से शोभित हैं, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती हैं और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं, शब्दायमान होकर झरती हैं।

जहाँ के गिरिविवर कुहिरे के तितिर से छाए हैं। इनमें से भालुनी थुत्कार करतीं निकलकर पुष्पों की टट्टियों के बीच प्रतिदिन विचरती दिखाई देती हैं। जहाँ के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है।

ये वही गिरि हैं जहाँ मत्तमयूरों का जूथ वरूथ का वरूथ होकर वन को अपनी कुहुक से प्रसन्न करता है, ये वही वन की स्थली हैं जहाँ मत्त हरिण हरिणियों समेत विचरते हैं।

मंजु वंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज, जिनके पत्ते ऐसे सघन कि सूर्य की किरणों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं। कुंज में तम का पुंज पुंजित है जिसमें श्याम तमाल की शाखा निंब के पीत पत्रों से मिली हैं, रसाल का वृक्ष अपने विशाल हाथों को पिप्पल के चंचल प्रबालों से मिलाता है। कोई लता जंबू से लिपटकर अपनी लहराती हुई डार को सबसे ऊपर निकालती है। अशोक के ललित पुष्पमय स्तवक झूमते हैं, माधवी तुषार के सदृश पत्रों को दिखलाती है, और अनेक वृक्ष अपनी पुष्पनमित डारों से पुष्प की वृष्टि करते हैं। पवन सुगंध के भार से मंद मंद चलती है, केवल निर्झर का रव सुनाई पड़ता है। कभी कभी कोइल का बोल दूर से सुनाता है और कलरव का कलरव निकट स्थित वृक्ष से सुनाई पड़ता है। ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ी और मनोहर मनोहर पहाड़ी के बीच होकर

वहती हैँ, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक-अनेक दुर्गम, विषम और असम भूमि के ऊपर से वहुत से तीर्थ और नगरोँ को अपने पुण्यजल से पावन करती पूर्व समुद्र मैँ गिरती हैँ।

इसी नदी के तीर अनेक जंगली गाँव वसे हैँ। वहाँ के निवासी वन्य पशुओँ की भाँति आचरण करने मैँ कुछ कम नहीँ हैँ, पर मेरा ग्राम इन सभोँ से उत्कृष्ट और शिष्ट जनोँ से पूरित है, इसके नाम ही को सुनकर तुम जानोगे कि वह कैसा ग्राम है। इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है, यहाँ आम के आराम थकित पथिक और पवित्र यात्रियोँ को विश्राम और आराम देते हैँ। यहाँ क्षीरसागर के भगवान नारायण का मंदिर सुखकंदर इसी गंगा के तट पर विराजमान है। राम, लक्ष्मण और जानकी की मूरतैँ सजीव सूरतैँ सी झलकती हैँ। ऐसा जान पड़ता है मानोँ अभी उठी वैठती होँ। मंदिर के चारोँ ओर गौर उपल की छरदिवाली दिवाली की शोभा को लजाती है। मंदिर तो ऐसा जान पड़ता है मानोँ प्रालेय-पर्वत का कंदर हो। भगवान् रामचंद्र के सन्मुख गरुड़ की सुंदर मूर्ति कर-कमल जोड़े सेवा की तत्परता सुचाती है। सोने का घंटा सोने ही की साँकर मैँ लटका धर्म के अटका सा झूलता दीन-दुःखी दर्शनियोँ के खटका को सटकाता है। भटका भटका भी कोई यद्यपि किसी दुःख का झटका खाए हो यहाँ आकर विराम पाता है, और मनोरंजन-दुःखभंजन - खंजनगंजन - विलोल - विलोचनी जनक-दुलारी के कृपा-कटाक्ष को देखते ही सब दुःख-दारिद्र छुटाता है।

देवालयोँ की अवली नदी के तीर मैँ नीर पर परछाहीँ फैँकती हैँ। ऐसा जान पड़ता है कि जितने ऊँचे कँगूरोँ से वह अंवर को छूती है उसी भाँति पाताल की गहराई भी नापती है।

जहाँ विचित्र पाठशाला, बाला और बालक-पाठशाला, न्यायाधीश और प्रबंधकों के आगार, बनियों का व्यापार, जिनके द्वारे फूलों के हार टँगे हैं, जहाँ के राजपथों पर व्योपारियों की भीर सदैव गंभीर सागर सी बनी रहती है, चित्त पर ऐसा असर करती है जो लिखने के बाहर है।

पुरानी टूटी-फूटी दीवालें इस ग्राम की प्राचीनता की साक्षी हैं। ग्राम-सीमांत के झाड़, जहाँ झुंड के झुंड कोवे और बकुले बसेरा लेते हैं, गवँई की शोभा बताते हैं। पौ फटते और गोधूली के समय गैयों के खिरके की शोभा, जिनके खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानों कुहिरा गिरता हो।

यहाँ के कोविद भरथरी, गोपीचंद, भोज, विक्रम (जिसे विकरमाजीत कहते हैं), लोरिक और चदँनी, मीराबाई, आल्हा, ढोलामारू, हरदौल इत्यादिकों की कथा के रसिक हैं। ये बिचारे सीधे-साधे बुड्ढे जाड़े के दिनों में किसी गरम कौड़े के चारों ओर पुआल बिछा बिछा के अपने परिजनों के साथ युवती और वृद्धा, बालक और बालिका, युवा और वृद्ध सब के सब बैठ कथा कह दिन बिताते हैं। कोई पढ़ा लिखा पुरुष रामायण और ब्रजविलास की पोथी बाँचकर टेढ़ा मेढ़ा अर्थ कह सभों में चतुर बन जाता है। ठीक है "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते"। कोई लड़ाई का हाल कहते कहते बेहाल हो जाता है, कोई किसी प्रेमकहानी को सुन किसी की प्रबल विरह-वेदना को अनुभव कर आँसू भर लेता है। कोई इन्हें मूर्ख ही समझकर हँस देता है, यह भोली कविता भी कैसी होती है। अनुप्रास भी इन ग्रामीणों को सुखद होता है। धानों के खेत, जो गरीबों के धन हैं, इस ग्राम की शोभा बढ़ाते हैं, मेरा इसी ग्राम का जन्म है।

पाँचवों सुरभि--

(श्री पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी)

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने भूमंडल के सभी देशों की दंडव्यवस्था के पुराने रूप एकत्र कर दिये हैं। रुचिभेद के अनुसार जिस प्रकार दंडव्यवस्था के स्वरूपों में भेद दिखाई देता है उसी प्रकार इसके साधनों में भी। ये इस प्रकार के निबंध कभी-कभी लिखा करते थे। रूपक का बंधान किसी न किसी रूप में अंत तक चला गया है। जिस प्रकार विषय की सामग्री के विचार से निबंध अत्यंत रोचक है उसी प्रकार इसकी शैली भी मोहक है। इतना होने पर भी लेखक ने प्रकृत गंभीरता को बनाए रखा है। वाक्यों के विन्यास का चलता ढंग, शब्दों का सम्यक् विधान और प्रतिपादन की विशिष्ट पद्धति ऐसे गुण हैं जिनसे निबंध कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो गया है।

५.

दंडदेव का आत्मनिवेदन

हमारा नाम दंडदेव है। पर हमारे जन्मदाता का कुछ भी पता नहीं। कोई कहता है कि हमारे पिता का नाम वंश या बाँस है। कोई कहता है, नहीं; हमारे पूज्यपाद पितृ-महाशय का नाम काष्ठ है। इसमें भी किसी-किसी का मतभेद है; क्योंकि कुछ लोगों का अनुमान है कि हमारे पिता का नाम बेंत है। इसी से हम कहते हैं कि हमारे जन्मदाता का नाम निश्चयपूर्वक कोई नहीं बता सकता। हम भी नहीं बता सकते। सबके गर्भ-धारिणी माता होती हैं; हमारे वह भी नहीं। हम तो जमीं तोड़ हैं। यदि माता होती तो उससे पिता का नाम पूछकर आप पर अवश्य ही प्रकट कर देते। पर क्या करें; मजबूरी है। न बाप, न माँ; अपनी हुलिया यदि हम लिखाना चाहें तो कैसे लिखावें। इस कारण हम सिर्फ अपना ही नाम बता सकते हैं।

हम राजराजेश्वर के हाथ से लेकर दीन-दुर्बल भिखारी तक के हाथ में विराजमान रहते हैं। जराजीर्ण के तो एकमात्र अव-लंब हमीं हैं। हम इतने समदर्शी हैं कि इसमें भेदज्ञान जरा भी नहीं। धार्मिक-अधार्मिक, साधु-असाधु, काले-गोरे सभी का पाणिस्पर्श हम करते हैं। यों तो हम सभी जगह रहते हैं, परंतु अदालतों और स्कूलों में हमारी तूती बोलती है। वहाँ हमारा अनवरत आदर होता है।

संसार में अवतार लेने का हमारा उद्देश्य दुष्ट मनुष्यों और दुर्वृत्त बालकों का शासन करना है। यदि हम अवतार न लेते तो ये लोग उच्छृंखल होकर मही-मंडल में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न कर देते। दुष्ट हमें बुरा बताते हैं, हमारी निंदा करते हैं, हमपर झूठे-झूठे आरोप करते हैं। परंतु हम उनकी कटूक्तियाँ

और अभिशापों की जरा भी परवाह नहीं करते। बात यह है कि उनकी उन्नति के पथप्रदर्शक हमीं हैं। यदि हमीं उनसे रूठ जायँ तो वे लोग दिनदहाड़े मार्गभ्रष्ट हुए बिना न रहें।

विलायत के प्रसिद्ध पंडित जानसन साहब को आप शायद जानते होंगे। ये वही महाशय हैं जिन्होंने एक बहुत बड़ा कोश अँगरेजी में लिखा है और विलायती कवियों के जीवन-चरित्र बड़ी-बड़ी तीन जिल्दों में भरकर चरित्ररूपिणी त्रिपथगा प्रवाहित की है। एक दफे यही जानसन साहब कुछ भद्र महिलाओं का मधुर और मनोहर व्यवहार देखकर बड़े प्रसन्न हुए। इस सुंदर व्यवहार की उत्पत्ति का कारण खोजने पर उन्हें मालूम हुआ कि इन महिलाओं ने अपनी-अपनी माताओं के कठिन शासन की कृपा ही से ऐसा भद्रोचित व्यवहार सीखा है। इसपर उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा—

"Rod, I will honour thee for this thy duty."

अर्थात् हे दंड, तेरे इस कर्तव्यपालन का मैं अत्यधिक आदर करता हूँ। जानसन साहब की इस उक्ति का मूल्य आप कम न समझिए। सचमुच ही हम बहुत बड़े संमान के पात्र हैं। क्योंकि हमीं तुम लोगों के—मानवजाति के—भाग्य-विधाता और नियंता हैं।

संसार की सृष्टि करते समय परमेश्वर को मानव-हृदय में एक उपदेष्टा के निवास की योजना करनी पड़ी थी, उसका नाम है विवेक। इस विवेक के ही अनुरोध से मानव-जाति, पाप से धरपकड़ करती हुई, आज इस उन्नत अवस्था को प्राप्त हुई है। इसी विवेक की प्रेरणा से मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में हमारी सहायता से पापियों और अपराधियों का शासन करते थे। शासन का प्रथम आविष्कृत अस्त्र, दंड, हमीं

थे। परंतु कालक्रम से हम अब नाना प्रकार के उपयोगी आकारों में परिणत हो गए हैं। हमारी प्रयोग-प्रणाली में भी अब बहुत कुछ उन्नति, सुधार और रूपांतर हो गया है।

पचास साठ वर्ष के भीतर इस संसार में बड़ा परिवर्तन, बहुत उथल-पुथल हो गया है। उसके बहुत पहले भी, इस विशाल जगत् में, हमारा राजत्व था। उस समय रूस में, आजकल ही की तरह, मार-काट जारी थी। पोलैंड में यद्यपि इस समय हमारी कम चाह है, पर उस समय वहाँ की स्त्रियों पर रूसी सिपाही मनमाना अत्याचार करते थे और वार-बार हमारी सहायता लेते थे। चीन में तब भी वंश-दंड का अटल राज्य था। टर्की में तब भी दंड चलते थे। श्यामवासियों की पूजा तब भी लाठियों से की जाती थी। अफरीका से तब भी मंवौं-जंवौं (गैंड़े की खाल का हंटर) अंतर्हित न हुआ था। उस समय भी वयस्का भद्र महिलाओं पर चाबुक चलता था। पचास-साठ वर्ष पहले, संसार में, जिस दंडशक्ति का निष्कंटक साम्राज्य था, यह न समझना कि उसका तिरोभाव हो गया है। प्राचीन काल की तरह अब भी सर्वत्र हमारा प्रभाव जागरूक है। इशारे के तौर पर हम जर्मनी के हर प्रांत में वर्तमान अपनी अखंड सत्ता का स्मरण दिलाए देते हैं। परंतु वर्तमान वृत्तांत सुनने की अपेक्षा पहले हम अपना पुराना वृत्तांत सुना देना ही अच्छा समझते हैं।

प्राचीन काल में रोम-राज्य योरप की नाक समझा जाता था। दंडदान या दंडविधान में रोम ने कितनी उन्नति की थी, यह बात शायद सब लोग नहीं जानते। उस समय हम तीन भाई थे। रोमवाले साधारण दंड के बदले कशादंड (हंटर या कोड़े) का उपयोग करते थे। इसी कशादंड के तारतम्य के

अनुसार हमारे भिन्न-भिन्न तीन नाम थे। इनमें सबसे बड़े का नाम फ्लैगेलम (Flagellum), मँझले का सेंटिका (Sentica) और छोटे का फेरूला (Ferula) था। रोम के न्यायालय और वहाँ की महिलाओं के कमरे हम इन्हीं तीनों भाइयों से सुसज्जित रहते थे। अपराधियों पर न्यायाधीशों की असीम क्षमता और प्रभुता थी। अनेक बार प्रभु या प्रभुपत्नियाँ, दया के वशवर्ती होकर, हमारी सहायता से अपने दासों के दुःखमय जीवन का अंत कर देती थीं। भोजन के समय, आमंत्रित लोगों को प्रसन्न करने के लिए, दासों पर कशाघात करने की पूर्ण व्यवस्था थी। दासियों को तो एक प्रकार से नंगी ही रहना पड़ता था। वस्त्राच्छादित रहने से वे शायद कशाघातों का स्वाद अच्छी तरह न ले सकें, इसीलिए ऐसी व्यवस्था थी। यहीं पर तुम हमारे प्रभाव का कहीं अंत न समझ लेना। दासियों को एक और भी उपाय से दंड दिया जाता था। छत की कड़ियों से उनके लंबे-लंबे बाल बाँध दिए जाते थे। छत से लटक जाने पर उनके पैरों से कोई भारी चीज बाँध दी जाती थी, ताकि वे पैर न हिला सकें। यह प्रबंध हो चुकने पर उनके अंगों की परीक्षा करने के लिए हमारी योजना होती थी। यह सुनकर शायद तुम्हारा दिल दहल उठा होगा और तुम्हारा बदन काँपने लगा होगा। पर हम तो बड़े ही प्रसन्न हैं। ऐसा ही दंड दासों को भी दिया जाता था। परंतु बालों के बदले उनके हाथ बाँध दिए जाते थे।

इससे तुम समझ गए होगे कि रोम की महिलाएँ हमारा कितना आदर करती थीं। परंतु यह बात वहाँ के कर्तृपक्ष को असह्य हो उठी। उन्होंने कहा—इस दंडदेव का इतना आदर! उन्होंने हमारी इस उपयोगिता में विघ्न डालने के लिए कई

कानून बना डाले। सम्राट आड्रियन के राजत्वकाल में इस कानून को तोड़ने के अपराध में एक महिला को पाँच वर्ष का देश-निर्वासन दंड मिला था। अस्तु।

अब हम जर्मनी, फ्रांस, रूस, अमेरिका आदि का कुछ हाल सुनाते हैं। ध्यान लगाकर सुनिए। इन सब देशों के घरों, स्कूलों और अदालतों में भी पहले हमारा निश्चल राज्य था। संस्कार-घरों (House of Correction) में भी हमारी षोडशोपचार पूजा होती थी। इन संस्कार-घरों अथवा चरित्र-सुधार-घरों में चरित्र और व्यवहार-विषयक दोषों का सुधार किया जाता था। अभिभावक-जन अपनी दुश्चरित्र स्त्रियों और अधीनस्थ पुरुषों को इन घरों में भेज देते थे। वहाँ वे हमारी ही सहायता—हमारे ही आघात—से सुधारे जाते थे।

जर्मनी में तो हम पहले अनेक रूपों में विद्यमान थे। हमारे रूप थे कशादंड, वेत्रदंड, चर्मदंड आदि। कोतवालों और न्यायाधीशों को कशाघात करने के अखतियारात हासिल थे। संस्कार-घरों में हतभागिनी नारियों की संख्या अधिक होती थी। वहाँ बहुधा निरपराधिनी रमणियों को भी, दुष्टों के फंदे में फँसकर, कशाघात सहने पड़ते थे। पहले वे नंगी कर डाली जाती थीं। तब उनपर बेंत पड़ते थे। जर्मन-भाषा के ग्रंथ-साहित्य में इस कशाघात का उल्लेख सैकड़ों जगह पाया जाता है।

फ्रांस में भी हमने मनमाना राज्य किया है। वहाँ के विद्यालयों में, किसी समय, हमारा बड़ा प्रभाव था। विद्यालयों में कोमलकलेवरा बालिकाओं को भी हमें चूमना पड़ता था। यहाँ तक कि उन्हें हमारा प्रयोग करनेवालों का अभिवादन करना पड़ता था। फ्रांस में तो हमने पवित्र-हृदया कामिनियों के कर-कमलों को भी पवित्र किया था। आपको इस बात का विश्वास

न हो तो एक प्रमाण लीजिए। 'रोमन-डि-लारोज' नामक काव्य में कविवर क्लपिनेले ने स्त्रियों के विरुद्ध चार सतरें लिख मारी हैं। उनका भावार्थ कवि पोप के शब्दों में है—'Every woman is at heart a rake.' इस उक्ति को सुनकर कुछ संमाननीय महिलाएं बेतरह कुपित हो उठीं। एक दिन उन्होंने कवि को अपने कब्जे में पाकर उसे सुधारना चाहा। तब यह देखकर कि इनके पंजे से निकल भागना असंभव है, कवि ने कहा—"मैंने जरूर अपराध किया है, अतएव मुझे सजा भोगने में कुछ भी उज्र नहीं। पर मेरी एक प्रार्थना है। वह यह कि उस उक्ति को पढ़कर जिस महिला को सबसे अधिक बुरा लगा हो वही मुझे पहले दंड दे।" इसका फैसला कोई स्त्री न कर सकी। फल यह हुआ कि कवि पिटने से बच गया।

रूस में भी हमारा आधिपत्य रह चुका है। वहाँ तो सभी प्रकार के अपराध करने पर साधारण दंड या कशादंड से प्रायश्चित्त कराया जाता था। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या राजकर्मचारी, क्या साधारण जन, सभी को—अपराध करने पर—हमारा अनुग्रह ग्रहण करना पड़ता था। किसान तो हमारी कृपा के सबसे अधिक पात्र थे। उन पर तो, जो चाहता था वही, निःशंक और निःसंकोच, हमारा प्रयोग करता था। हमारा प्रसाद पाकर वे बेचारे चुपचाप चल देते थे और अपना क्रोध अपनी पत्नियों और पशुओं पर प्रकट करते थे। रूस के अमीरों और धनवानों से हमारी बड़ी ही गहरी मित्रता थी। दोष-दमन करने में वे सिवा हमारे और किसी की भी सहायता, कभी भूलकर भी, न लेते थे। उनका खयाल था कि अपराधियों को अधमरा करने के लिए ही भगवान् ने हमारी सृष्टि की है।

रूस मैँ तो, पूर्व कालोँ मैँ, दंडाघात प्रेम का भी चिह्न माना जाता था। विवाहिता वधुएँ अपने पतियोँ से हमीँ को पाने के लिए सदा लालायित रहती थीँ। यदि स्वामी, बीच बीच मैँ, अपनी पत्नी का, दंडदान नामक आदर न करता तो पत्नी समझती कि उसके स्वामी का प्रेम उस पर कम होता जा रहा है। यह प्रथा केवल नीच या छोटे लोगोँ ही मैँ प्रचलित न थी, बड़े बड़े घरोँ मैँ भी इसका पूरा प्रचार था। बर्कले नाम के लेखक ने लिखा है कि रूस मैँ दंडाघातोँ की न्यूनाधिक संख्या ही से प्रेम की न्यूनाधिकता की माप होती थी। इसके सिवा स्नानागारोँ मैँ भी हमारा प्रबल प्रताप छाया हुआ था। स्नान करनेवालोँ का समस्त शरीर ही हमारे अनुग्रह का पात्र बनाया जाता था। स्टिफेंस साहब ने इसका विस्तृत विवरण लिख रखा है। विश्वास न हो तो उनकी पुस्तक देख लीजिए।

हमारे संबंध मैँ तुम अमेरिका को पिछड़ा हुआ कहीँ मत समझ बैठना। वहाँ भी हमारा कम प्रभाव न था। बालकोँ और बालिकाओँ का गार्हस्थ्य जीवन यहाँ हमारे ही द्वारा नियंत्रित होता था। प्यूरिटन नाम के क्रिश्चियन धर्मसंप्रदाय के अनुयायियोँ के प्रभुत्व के समय लोगोँ को बात बात मैँ कशाघात की शरण लेनी पड़ती थी। क्वेकर-संप्रदाय को देश से दूर निकालने मैँ अमेरिका के निवासियोँ ने हमारी खूब सहायता ली थी। हमारा प्रयोग बड़े ही अच्छे ढंग से किया जाता था। काठ के एक तख्ते पर अपराधी बाँध दिया जाता था। फिर उस पर सड़ासड़ बैँत पड़ते थे।

अफरीका की तो कुछ पूछिए नहीँ। वहाँ तो पहले भी हमारा अखंड राज्य था और अब भी है। यही एक देश ऐसा है जिसने हमारे महत्त्व को पूर्णतया पहचान पाया है। बच्चोँ

की शिक्षा से तो हमारा बहुत ही घनिष्ठ संबंध था। वहाँ के लोगों का विश्वास था कि हमारा आगमन स्वर्ग से हुआ है और हम ईश्वर के आशीर्वाद-रूप हैं। हम नहीं, तो समझना चाहिए कि परमेश्वर ही रूठा है। मिस्रवाले तो इस प्रवाद पर आँख-कान बंद करके विश्वास करते थे। वहाँ के दीन-वत्सल महीपाल प्रजावर्ग को इस आशीर्वाद का स्वाद बहुधा चखाया करते थे। इस राज्य में बिना हमारी सहायता के राजकर वसूल होना प्रायः असंभव था। मिस्र के निवासी राजा का प्राप्य अंश कर अदा करना न चाहते थे। इस कारण हमें उन पर सदा ही कृपा करनी पड़ती थी। उनकी पीठ पर हमारे जितने ही अधिक चिह्न बन जाते थे वे अपने को उतने ही अधिक कृतज्ञ या कृतार्थ समझते थे।

अफरीका की असभ्य जातियों में स्त्रियों के ऊपर हमारा बड़ा प्रकोप रहता था। ज्यों ही स्वामी अपनी स्त्री के सतीत्व-रत्न को जाते देखता था त्यों ही वह हमारी पूर्ण तृप्ति करके उस कुल-कलंकिनी को घर से निकाल बाहर करता था। कभी कभी स्त्रियाँ भी हमारी सहायता से अपने अपने स्वामियों की यथेष्ट खबर लेती थीं। अफरीका के पश्चिमी प्रांतों में यद्यपि बालक-बालिकाओं पर हमारा विशेष प्रभाव न था तथापि उन्हें हमसे भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों का सामना करना पड़ता था। नटखट और दुष्ट लड़कों और लड़कियों की आँखों में लाल मिर्च मल दी जाती थी। वे बेचारे इस योजना का कष्ट सहन करने में असमर्थ होकर घंटों छटपटाते और चिल्लाते थे। वयस्कों को तो इससे भी अधिक यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं। ये पहले पेड़ों की डालों से लटका दिए जाते थे। फिर वे खूब पीटे जाते थे। देह लोहू-लोहान हो जाने पर उस पर सर्वत्र

लाल मिर्च का चूर्ण मला जाता था। याद रहे, ये सब पुरानी बातें हैं। आजकल की बातें हम नहीं कहते, क्योंकि हमारे प्रयोग में यद्यपि इस समय कुछ परिवर्तन हो गया है, तथापि हमारा कार्यक्षेत्र घटा नहीं, बढ़ा ही है।

तुम्हारे एशिया-खंड में भी हमारा राज्य दूर दूर तक फैल रहा है। एशिया कोचक (एशिया माइनर) के यहूदियों में, किसी समय, हमारी बड़ी धाक थी। वहाँ हमारा प्रताप बहुत ही प्रबल था। ईसाई धर्म फैलाने में सेंट पाल नामक धर्माचार्य ने बड़े बड़े अत्याचार सहे हैं। वे ४६ दफे कशाहत और ३ दफे दंडाहत हुए थे। बाइबिल में हमारे प्रयोग का उल्लेख सैकड़ों जगह आया है।

यहूदियों की तरह पारसियों में भी हमारा विशेष आदर था। क्या धनी, क्या निर्धन, सभी को—यदा कदा—दंडों की मार सहनी पड़ती थी। यह चाल बहुत दिनों तक जारी रही। तदनंतर वह बदल गई। तब माननीय मनुष्यों के शरीर की जगह उनके कपड़ों पर कोड़े लगाए जाने लगे।

चीन में तो हमारा आधिपत्य एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैला हुआ था। ऐसा एक भी अपराधी न था जिसे सजा देने में हमारा प्रयोग न होता रहा हो। उच्च राजकर्मचारियों से लेकर दीन-दुखी भिखारियों तक को, अपराध करने पर, हमारे अनुग्रह का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से करना पड़ता था। दंड की मार खाने में, उस समय, चीनी लोग अपना अपमान न समझते थे। हाँ, हमारे कृपा-कटाक्ष से उन्हें जो यंत्रणा भोगनी पड़ती थी उसे वे जरूर नापसंद करते थे। बड़े बड़े सेनानायक और प्रांत-शासक हमारे कठोर अनुग्रह को प्राप्त करके भी अपने उच्च पदों पर प्रतिष्ठित रहते थे। चीन में अपराधियों ही तक

हमारे कोप की सीमा बद्ध न थी। कितने ही निरपराध जन भी हमारे स्पर्श-सुख का अनुभव करके ऐसे गद्गद् हो जाते थे कि फिर जगह से उठ तक न सकते थे। हमारी पहुँच दूर दूर तक थी। चोरोँ, डाकुओँ और हत्यारोँ आदि को जब कोतवाल और पुलिस के अन्य प्रतापी अफसर न पकड़ सकते थे तब वे हमारी शरण आते थे। उस समय हम उन पर ऐसा प्रेम दरसाते थे कि उछल-उछल कर उनकी देह पर जा पड़ते थे। चीन की पुरानी अदालतोँ मेँ जितने अभियुक्त और गवाह आते थे वे बहुधा बिना हमारा प्रसाद पाए न लौट सकते थे।

चतुर और चाणाक्ष चीन के अद्भुत कानून की बात कुछ न पूछिए। वहाँ अपराध के लिए अपराधी ही जिम्मेदार नहीँ। उसके दूर तक के संबंधी भी जिम्मेदार समझे जाते थे। जो लोग इस जिम्मेदारी का खयाल न करते थे उन्हेँ स्वयं हम पुरस्कार देते थे। चीन मेँ एक सौ परिवारोँ के पीछे एक मंडल की स्थापना होती थी। उसकी जिम्मेदारी भी कम न होती थी। अपने फिरके के सौ कुटुंबोँ का, यदि कोई व्यक्ति, कोई अपराध करता तो उसके बदले मेँ मंडल सजा पाता था। देव-सेवा के लिए रखे गए शूकर-शावक यदि बीमार या दुबले हो जाते तो प्रति शावक के लिए तत्वावधायक पर ५० डंडे लगते थे।

चीन की विवाह-विधि मेँ भी हमारी विशेष प्रतिपत्ति थी। पुत्र-कन्या की संमति लिए बिना ही उनका पहला पाणिग्रहण कराने का अधिकार माता-पिता को प्राप्त था। परंतु दूसरा विवाह वे न करा सकते थे। यदि वे इस नियम का उल्लंघन करते तो उन पर तड़ातड़ ८० डंडे पड़ते थे। विवाह-संबंध स्थिर करके यदि कन्या का पिता उसका विवाह किसी और वर के साथ कर देता तो उसे भी ८० डंडे खाने पड़ते। जो लोग अशौच-काल

में विवाह कर लेते थे उनकी पूजा पूरे एक सौ दंडाघातों से की जाती थी। स्वामी के जीवनकाल ही में जो रमणियाँ सम्राट् द्वारा संमानित होतीं, वे विधवा होने पर, पुनर्विवाह न कर सकती थीं। यदि कोई अभागिनी इस कानून को तोड़ती तो उसे पुरस्कृत करने के लिए हमें सौ वार उसके कोमल कलेवर का चुंवन करना पड़ता।

ये पुरानी वातें हैं। अपना नया हाल सुनाना हमारे लिए, इस छोटे से लेख में, असंभव है। अब यद्यपि हमारे उपचार के ढंग वदल गए हैं और हमारा अधिकार-क्षेत्र कहीं कहीं संकुचित हो गया है, तथापि हमारी पहुँच नई नई जगहों में हो गई है। आजकल हमारा आधिपत्य केनिया, ट्रांसवाल, केपकालनी आदि विलायतों में सबसे अधिक है। वहाँ के गोरे कृषक हमारी ही सहायता से हवशी और भारतवर्षीय कुलियों से वारह वारह, सोलह सोलह घंटे काम कराते हैं। वहाँ काम करते करते, हमारा प्रसाद पाकर, अनेक सौभाग्यशाली कुली, समय के पहले ही, स्वर्ग सिधार जाते हैं। फीजी, जमाइका, गायना, मारिशस आदि टापुओं में भी हम खूब फूल-फल रहे हैं। जीते रहें गन्ने की खेती करनेवाले गौरकाय विदेशी! वे हमारा अत्यधिक आदर करते हैं; कभी अपने हाथ से हमें अलग नहीं करते। उनकी वदौलत ही हम भारतीय कुलियों की पीठ, पेट, हाथ आदि अंग-प्रत्यंग छू-छूकर कृतार्थ हुआ करते हैं—अथवा कहना चाहिए कि हम नहीं, हमारे स्पर्श से वही अपने को कृतकृत्य मानते हैं। अंडमन टापू के कैदियों पर भी हम वहुधा जोर-आजमाई करते हैं। इधर भारत के जेलों में भी, कुछ समय से, हमारी विशेष पूछ-पाछ होने लगी है। यहाँ तक कि एम० ए० और बी० ए० पास कैदी भी हमारे संस्पर्श से अपना परित्राण नहीं कर सकते।

कितने ही असहयोगी कैदियों की अक्ल हमीं ने ठिकाने लगाई है।

हम और सब कहीं की बातें तो बता गए, पर इंगलैंड के समाचार हमने कहीं भी नहीं सुनाए। भूल हो गई। क्षमा कीजिए। खैर, तब न सही, अब सही। सूद में अब हम भारतवर्ष का भी कुछ हाल सुना देंगे। सुनिए—

लक्ष्मी और सरस्वती की विशेष कृपा होने से इंगलैंड अब उन्नत और सभ्य होगया है। ये दोनों ठहरीं स्त्रियाँ। और स्त्रियाँ बलवानों ही को अधिक चाहती हैं, निर्बलों को नहीं। सो बलवान होना बहुत बड़ी बात है। सभ्यता और उन्नति का विशेष आधार पशुबल ही है। हमारी इस युक्ति को सच समझिए और गाँठ में मजबूत बाँधिए। सो सभ्य और समुन्नत होने के कारण इंगलैंड में अब हमारा आदर कम होता जाता है। तिस पर भी कशादंड का प्रचार वहाँ अब भी खूब है। कोड़े वहाँ अब भी खूब बरसते हैं। वहाँ के विद्यालयों में हमारी इस मूर्ति की पूजा बड़े भक्ति-भाव से होती है। हमारा प्रभाव घोड़े की पीठ पर जितना देखा जाता है उतना अन्यत्र नहीं। इसके सिवा सेना में भी हमारा संमान अभी तक थोड़ा-बहुत बना हुआ है।

भारतवर्ष में तो हमारा एकाधिपत्य ही सा है। भारत अपाहिज है। इसलिए भारतवासी हमारी मूर्ति को बड़े आदर से अपनी छाती से लगाए रहते हैं। वे डरते हैं कि ऐसा न हो जो कहीं धन-मान की रक्षा का एकमात्र बचा खुचा यह साधन भी छिन जाय। इसीसे हम पर उन लोगों का असीम प्रेम है। भारतवासी असभ्य और अनुन्नत होने पर भी विलासप्रिय कम हैं। इसीलिए वे ऋषियों और मुनियों द्वारा पूजित हम दंडदेव के आश्रम में रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं। शिक्षकों का बेंत

या कमची, सवारों का हंटर, कोचमैनों का चाबुक, गाड़ीवानों की औंगी या छड़ी, शुहदों के लट्ठ, शौकीन बाबुओं की पहाड़ी लकड़ी, पुलिसमैनों के डंडे, बूढ़े बाबा की कुबड़ी, भँगेड़ियों के भवानीदीन और लठैतों की लाठियाँ आदि सब क्या हैं? ये सब हमारे ही तो रूप हैं। ये सभी शासन-कार्य में सहायक होते हैं। भारत में ऐसे हजारों आदमी हैं जिनकी जीविका का आधार एकमात्र हम हैं। थाना नाम के देवस्थानों में हमारी ही पूजा होती है। हमारी कृपा और सहायता के बिना हमारे पुजारी (पुलिसमैन) एक दिन भी अपना कर्तव्यपालन नहीं कर सकते। भारत में तो एक भी पहले दरजे का मैजिस्ट्रेट ऐसा न होगा जिसकी अदालत के अहाते में हमारे उपयोग की योजना का पूरा-पूरा प्रबंध न हो। जेलों में भी हमारी शुश्रूषा सर्वदा हुआ करती है। इसी से हम कहते हैं कि भारत में तो हमारा एकाधिपत्य है।

पाठक, हम नहीं कह सकते कि हमारा यह चारु चरित सुनकर आप भी मुग्ध हुए या नहीं। कुछ भी हो, हमने अपना कर्तव्य कर दिया। आप प्रसन्न हों या न हों, पर इससे हम कितने प्रसन्न हैं, यह हम लिख नहीं सकते।

छठी सुरभि--

(श्री पं० माधवप्रसाद मिश्र)

प्रस्तुत निबंध में केवल एक वाक्य लेकर लेखक ने जो भावधारा बहाई है उसमें संस्कृति और साहित्य का अद्भुत मिश्रण है। पृथ्वी-तत्त्व के द्विधा रूप को स्पष्ट करने का बड़ा ही भावमय ढंग ग्रहण किया है। बुद्धि द्वारा उपस्थित तर्क और हृदय द्वारा प्रेरित भाव दोनों का समावेश होने से निबंध में 'साहित्य' का अच्छा चमत्कार दिखाई देता है। मिश्रजी की शैली गंभीर है, उसमें चपलता नहीं है। विनोदवृत्ति का वैसा योग न होने पर भी सजीवता है। वह वचन-वक्रता भी पाई जाती है जो आत्मव्यंजक निबंधों का प्राण है और जो है 'काव्यजीवितम्'।

६.

सब मिट्टी हो गया !

"चाचा ! चाचा ! सब मिट्टी हो गया जो खिलौना आप दिल्ली से लाए थे, उसे श्रीधर ने तोड़-फोड़ कर मिट्टी कर दिया !"

एक दिन मैं अपने घर में अकेला बैठा दिल्ली के भारतधर्म महामंडल का 'मंतव्य'-पत्र पढ़ रहा था। मेरा ध्यान उसमें ऐसा लग रहा था, कि मानों कोई उपासक अपने उपास्य का साक्षात्कार कर रहा हो।

आँख उठाकर देखा तो सामने छः वर्ष के बालक हरदयाल को पाया। हरदयाल मेरे बड़े भाई का लड़का है। इस समय वह अपने छोटे भाई की शिकायत कर रहा है। यह देखकर मुझे बड़ी हँसी आई कि खिलौना फूट गया है, इसलिए बालक हरदयाल ने 'सब मिट्टी हो गया' इत्यादि वाक्यावली से भूमिका बनाकर अपने छोटे भाई श्रीधर के नाम अभियोग खड़ा किया है। इस समय हँसकर मैं एक बात भी कहना चाहता था, किंतु यह सोचकर चुप रह गया, कि ऐसा करने से कहीं बालक की ढीठता को सहारा न मिले और धमकाना इसलिए उचित नहीं समझा कि मनमौजी बालकों के आनंद में विघ्न करने से क्या मतलब। खैर, दोनों प्रकार की व्यवस्था से मन हटाकर हरदयाल से कहा,—"श्रीधर बहुत बिगड़ गया है, उसको आज पीछे कोई खिलौना न देंगे।" हरदयाल अपनी इच्छानुकूल उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और हँसता हुआ श्रीधर को यह संवाद सुनाने दौड़ता गया।

घर फिर निस्तब्ध हो गया, किंतु अंतःकरण निस्तब्ध नहीं हुआ। 'सब मिट्टी हो गया है' इस बात ने मन में एक दर्द पैदा

कर दिया। अच्छा, मैं बालक को हँसकर क्या कहा चाहता था, वह तो सुन लीजिए। कहा चाहता था, 'जब वस्तु मिट्टी की है, तो मिट्टी हुई किस प्रकार?' जो हो, वह बात तो हो चुकी। अब सोचने लगा, कि जो नष्ट वा निकम्मा हो जाता है, उसी का नाम है मिट्टी होना। क्या आश्चर्य है! मिट्टी के घर को कोई मिट्टी नहीं कहता, किंतु घर के गिर जाने से लोग कहते हैं कि,—'घर मिट्टी हो गया!' हमारा यह मकान, सब मिट्टी का बना हुआ है। दीवारें तो मिट्टी की हैं ही, पर ईंटें भी केवल पकी हुई मिट्टी के सिवा और क्या हैं? पर अब किसी से पूछिए कोई इसे मिट्टी नहीं कहेगा, गिर जाने पर सब कहेंगे कि 'मकान मिट्टी हो गया।'

लोग केवल घर ही के नष्ट होने पर 'मिट्टी हो गया' नहीं कहते हैं, और और जगह भी इसका प्रयोग करते हैं। किसी का बड़ा भारी परिश्रम जब विफल हो जाय, तब कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया।' किसी का धन खोया जाय, मान-मर्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चली जाय तो कहेंगे,—'सब मिट्टी हो गया।' इससे जाना गया, कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किंतु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है? किसी वस्तु के नष्ट होने पर केवल मिट्टी ही तो नहीं होती। मिट्टी होती है, जल होता है, अग्नि होती है, वायु और आकाश भी होता है। फिर अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है? यदि किसी की जिनिस अच्छे भाव पर बिकती नहीं है, तो कहेंगे—'मिट्टी की दर पर माल जा रहा है।' वह माल राख के बराबर कितना ही निकम्मा, कितना ही बुरा क्यों न हो, निकृष्ट और अगौरव के स्थल पर तुरंत उसकी मिट्टी के साथ तुलना होती है! क्या सचमुच, मिट्टी इतनी ही निकृष्ट है? और

क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है, और हम कुछ निकृष्ट नहीं हैं? भगवती वसुंधरे! तुम्हारा 'सर्वंसहा' नाम व्यर्थ नहीं है!

अच्छा, मा! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुंधरा' किसने रखा? यह नाम तो उस समय का नाम है। मालूम होता है, यह नाम व्यास, वाल्मीकि, पाणिनी, कात्यायन आदि सुसंतान का दिया हुआ है। केवल यही नाम क्यों? वसुंधरा, वसुमती, वसुधा, विश्वंभरा प्रभृति कितने ही आदर के और भी अनेक नाम हैं। जाने वे तुम्हारे सुपुत्र कितने आदर से, कितनी श्लाघा से और कितनी श्रद्धा से तुम्हें पुकारते थे। क्यों माता, ऐसा धन तुम्हारे पास क्या धरा है, जिससे तुम वसुंधरा, वसुधा के नाम से विख्यात हो? मा! कुछ तो है, जिससे इस दुर्दिन के घोर अंधकार में भी तुम्हारे मुख पर उजाला हो रहा है।

जिन सत्पुत्रों ने तुम्हारे ये नाम रखे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ रत्न हैं। व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, कपिल, कणाद, जैमिनि, गौतम, इनकी अपेक्षा और कौन रत्न हैं? मा! भीष्म, द्रोण, वलि, दधीचि, शिवि, हरिश्चंद्र इनके सदृश रत्न और कहाँ हैं? अनुसूया, अरुंधती, सीता, सावित्री, सती, दमयंती, इनके तुल्य रत्न और कहाँ मिल सकते हैं? हम लोग अकृतज्ञ हैं, सब भूल गए। अब हमें उनका स्मरण ही नहीं। मानों वे एक बार ही लोप हो गए हैं। यदि कहीं लीन हुए होंगे तो वे तुम्हारे ही अंग में लीन हुए हैं। जननी! जरा देखें तो सही, तुम्हारे किस अंग में लीन हुए हैं? मा! वह तेज, वह प्रतिभा, कहाँ समा सकती है? मा! आकाश के चंद्र-सूर्य क्या मिट्टी में सो रहे हैं? मा! एक बार तो अभागी संतान को उनके दर्शन कराओ!

देखूँ मा ! उस कुरुक्षेत्र मेँ कितनी कठोर मृत्तिका हो गई ! भीष्मदेव का पतनक्षेत्र किन पाषाणोँ मेँ परिणित हो गया ! कपिल, गौतम की शेषशय्या का कितना ऊँचा आकार हो रहा है ! उज्जयिनी की विजयिनी भूमि मेँ कैसी मधुमयी धारा चल रही है ! अहा ! अहा ! तुम्हारे अंग मेँ किस प्रकार पादस्पर्श करूँ ? मा ! तुम्हारे प्रत्येक परमाणु मेँ जो रत्न के कण हैँ, वे अमूल्य हैँ, क्षयरहित हैँ और अतुल हैँ ।

जगदंबा सती के पादस्पर्श से जो मृत्तिका पवित्र हुई है, पतिनिंदा को सुनकर जहाँ सती का शरीर धरती मेँ मिला है, वे क्षेत्र सभी तो वर्तमान हैँ। मा ! फिर पैर कहाँ रखा जाय ? वृंदावन विपिन मेँ अभी भी तो वंशी बज रही है। मा ! किस सहृदय के, किस सचेतन के कान मेँ वह वंशी नहीँ बजती ? अब तक भी यमुना का कृष्ण जल है, मा ! वियोगिनी व्रज-बालाओँ की कज्जलाक्त अश्रुधारा का यह माहात्म्य है ! गृह-त्यागिनी प्रेमोन्मादिनी राधिका की अनंत प्रेमधारा ही मानोँ यमुना के 'कल कल' शब्द के व्याज से 'हा ! कृष्ण ! हा कृष्ण !' पुकारकर इस धारा को सजीव कर रही है। अभागिनी जनक-तनया की दंडकारण्य-विहारी हाहाकार-ध्वनि यह देख, भवभूति के भवनपार्श्व-वाहिनी गोदावरी के गद्गद् नाद मेँ अच्छी तरह सुन पड़ती है ।

और उस अभागिनी तापसकन्या शकुंतला ने, जो कुछ दिन के लिए राजरानी हुई थी एवं अंत मेँ उस राजराजेश्वर पति से अपमानित, उपहसित होकर परित्यक्त दशा मेँ पालक पिता के शिष्योँ से रूखे और मर्मभेदी शब्दोँ से धमकाई और त्यागी जाकर कहीँ भी आश्रय न पा, कुररी की तरह, विकल कंठ से जो तुमसे कहा था,—'भगवति वसुंधरे ! देहि मेँ अंतरम्' वह

आज भी कानोंमें गूँज रहा है मा! वह शब्द अब भी हृदय को व्यथित कर रहा है।

मा! तुम्हारे रत्न कहाँ नहीं हैं, किस रेणु में तुम्हारे रत्न नहीं हैं?

"कोटि कोटि ऋषि-पुरुष-तन, कोटि कोटि नृप सूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर॥"

इसलिए तुम्हारी समस्त मृत्तिका पवित्र है। रज मस्तक पर चढ़ाने योग्य है। तुम्हारी प्रत्येक रेणु में ज्ञान, बुद्धि, मेधा, ज्योति, क्रांति, स्नेह-भक्ति, प्रेम-प्रीति विराज रही है। तुम्हारी प्रत्येक रेणु में धैर्य, गांभीर्य, महत्त्व, औदार्य, तितिक्षा, शौर्य देदीप्यमान हो रहा है। तुम्हारी प्रत्येक रज में शांति, वैराग्य, विवेक, ब्रह्मचर्य, तपस्या और तीर्थ निवास कर रहे हैं। हम अंधे हैं, इन सबको देखकर भी नहीं देख सकते। गुरुदेव ने सुना दिया है, सुनकर भी नहीं सुनते। नित्यकृत्य, प्रातःकृत्य, स्मरण करके भी स्मरण नहीं करते। हा! मा! तुम्हारी पवित्र मृत्तिका मस्तक पर चढ़ा, एक बार भी तो मुख से नहीं कहते, कि—

'अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुकान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्॥'

प्रभात के समय क्या कहकर तुम्हारी वंदना करें? शय्या त्याग कर नीचे पैर रखते हुए प्रणाम कर कहना चाहिए,—

"समुद्रमेखले देवि! पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥"

देवि! इस समय मैं पैर से तुम्हारा अंगस्पर्श करूँगा। तुम्हें स्पर्श न करें, ऐसा उपाय ही क्या है? समुद्रांत जितना विस्तृत स्थान है, सभी तो तुम्हारा अंग है। इस स्थान को छोड़कर मैं

कहाँ जाऊँ ? इस समुद्रांत भूमि पर जितने प्राणी रहते हैं, सबको ही तुम्हारे शरीर पर पैर रखना होगा। सो, मा ! तू इस अपराध को क्षमा कर। तुम जननी हो, तुम क्षमा न करोगी तो कौन करेगा ? यह विशाल पर्वत-समूह तुम्हारा स्तन-मंडल है, इस पर्वत-समूह से जितनी ही स्रोतस्विनी नदियाँ निकल रही हैं सो तुम्हारे ही स्तन की दुग्धधारा हैं। इन्हीं से सब प्राणी प्राणवान हैं। सो जननि ! विष्णुपत्नि ! संतान का यह अपराध क्षमा कर। हम भक्तिप्रवण चित्त से तुम्हें नमस्कार करते हैं।

हाय मा ! आज वे सब रत्न जीवित नहीं हैं, इसी से तो तुम बदनाम हो रही हो। आज तुम्हारी संतान मिट्टी हो रही है। इसलिए तुम्हारा भी वह वसुंधरा नाम विलुप्तप्राय है। देवी ! अब के मटियल कवियों को तो यही सूझता है कि—

समझ के अपने तन को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है।
मिट्टी करके अपना सरवस, मिट्टी में मिल जाता है॥

इसी समय हरदयाल फिर आ पहुँचा। कहने लगा,—"चाचा ! खूब हुआ, अब उसे कुछ न मिलेगा—यह सुनकर वह रो रहा है।" मैं बोला,—"देख हरदयाल ! मैं भी तो रो रहा हूँ।" वस्तुतः इस समय मैं भावविह्वल हो रहा था। दोनों नेत्र जल से छल छल कर रहे थे। हरदयाल ने मेरी ओर देख-कर कहा,—"क्यों चाचा ! तुम रोते क्यों हो ? खिलौना फूट गया है, इसलिए क्या ? खिलौना तो खरीदने पर फिर भी मिल सकता है।" मैं ने कहा,—"हाँ, खिलौना खरीदने पर फिर भी मिल जायगा, इसलिए नहीं रोता। जो खरीदने पर फिर नहीं मिलता, उसके लिए रोता हूँ।"

दूसरी ओर से श्रीधर के रोने की आवाज आई, बालक की सांत्वना के निमित्त स्वयं मुझको उठना पड़ा, मैं ने विषयांतर में

मन लगाया। इस प्रकार मेरी चिंता का स्रोत, अर्द्धपथ ही में आकर, रुक रहा। रुक जाय, समझनेवाले इसी से एक प्रकार का सिद्धांत निकाल सकते हैं। अर्थात् 'सब मिट्टी हो गया' इस बात को लोग जिस प्रकार कहते हैं, 'मिट्टी से सब होता है' यह बात भी उसी प्रकार कही जा सकती है। कोई कंचन को मिट्टी करता है और कोई मिट्टी को कंचन बना डालता है। सब समझ की बलिहारी है!

सातवीं सुरभि—

(श्री पद्मसिंह शर्मा)

भगवान् श्रीकृष्ण के चरित के संबंध में अनेक भ्रांतियाँ हैं। श्रीकृष्ण का जो चरित महाभारत में है उसका उतना ज्ञान लोगों को नहीं। गीतगोविंद में कृष्ण का चरित जैसा मान्य हुआ वही चल पड़ा। इन भ्रांतियों का निवारण करते हुए उनके सच्चे स्वरूप की ओर इस जीवन-चरित में विशेष ध्यान आकृष्ट किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण अभय मनोवृत्ति के थे और बड़े स्पष्टवादी थे।

पद्मसिंह की लेखन-शैली कैसी होती है इसका लेखा-जोखा देने की अपेक्षा नहीं। किसी विषय का प्रतिपादन अपनी विशिष्ट शैली से कर सकने में वे समर्थ हैं।

७.

भगवान् श्रीकृष्ण

पाँच हजार वर्ष बीते भगवान् श्रीकृष्णचंद्र आनंदकंद इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमी का शुभ पर्व प्रतिवर्ष हमेँ इस चिरस्मरणीय घटना की याद दिलाता है। आर्यजाति बड़ी श्रद्धाभक्ति से इस परमपावन पर्व को मनाती है। विश्व की उस अलौकिक विभूति के गुण-कीर्तन से करोड़ोँ आर्यजन अपने हृदयोँ को पवित्र बनाते हैँ। अपनी वर्तमान अधोगति मेँ, निराशा के इस भयानक अंधकार मेँ, उस दिव्य ज्योति को ध्यान की दृष्टि से देखकर संतोषलाभ करते हैँ। आज दुःख-दावानल से दग्ध भारतभूमि घनश्याम की अमृत-वर्षा की बाट जोहती है। दुःशासन-निपीड़ित प्रजा-द्रौपदी रक्षा के लिए कातर स्वर मेँ पुकारता है। धर्म अपनी दुर्गति पर सिर धुनता हुआ 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिज्ञाभंग की 'नालिश' कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार-कंस के कष्ट कारागार मेँ पड़ी दिन काट रही है, गौएँ अपने 'गोपाल' की याद मेँ प्राण दे रही हैँ, जान गँवा रही हैँ। इस प्रकार भगवान् के जन्मदिन का शुभ अवसर भी हमेँ अपनी मौत का मर्सिया ही सुनाने को मजबूर कर रहा है, आनंदबधाई के दिन भी हम अपना ही दुखड़ा रो रहे हैँ, विधि की विडंबना से 'प्रभाती' के समय 'विहाग' अलापना पड़ रहा है। संसार की अनेक जातियाँ क्षुद्र और बहुधा कल्पित आदर्शोँ के सहारे उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो गई हैँ और हो रही हैँ। उत्तम आदर्श उन्नति का प्रधान अवलंब है। अवनति के गर्त मेँ पतित जाति के लिए तो आदर्श ही उद्धार-रज्जु है। आर्यजाति के लिए आदर्शोँ का अभाव नहीँ है। सब प्रकार के एक से एक बढ़कर

आदर्श सामने हैं। संसार की अन्य किसी जाति ने इतने आदर्श नहीं पाए, फिर भी—इतने महत्त्वशाली आदर्श पाकर भी—आर्य-जाति क्यों नहीं उठती ! यही नहीं कभी-कभी तो 'आदर्शवाद' ही दुर्दशा का कारण बन जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण संसार भर के आदर्शों में सर्वांगसंपूर्ण आदर्श हैं इसी कारण हिंदू उन्हें सोलह कलासंपूर्ण अवतार—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' मानते हैं। अवतार न माननेवाले भी उन्हें आदर्श 'योगिराज', 'कर्मयोगी' सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्यजीवन को सार्थक बनाने के लिए जो आदर्श अपेक्षित है वह सब स्पष्ट रूप में प्रचुर परिमाण में श्रीकृष्णचरित में विद्यमान है। ध्यानी, ज्ञानी, योगी, कर्मयोगी, नीति-धुरंधर नेता और महारथी योद्धा, जिस दृष्टि से देखिए, जिस कसौटी पर कसिए, श्रीकृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत भाषा का साहित्य कृष्णचरित की महिमा से भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्य से हम उसके तत्त्व को हृदयंगम नहीं करते। हम 'आदर्श' का अनुकरण करना नहीं चाहते, उलटा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं और यही हमारी अधोगति का कारण है। यदि हम कर्मयोगी भगवान् कृष्ण के आदर्श का अनुसरण करते तो आज इस दयनीय दशा में न होते। महाभारत के श्रीकृष्ण को भूलकर 'गीतगोविंद' के कृष्ण का काल्पनिक चित्र निर्माण करके उस आदर्श महापुरुष को 'चोरजारशिखामणिः' की उपाधि दे डाला है। पतन की पराकाष्ठा है! कृष्णचरित के सर्वश्रेष्ठ लेखक श्रीबंकिमचंद्र ने एक जगह खिन्न होकर लिखा है—

"जब से हम हिंदू अपने आदर्श को भूल गए और हमने कृष्णचरित्र को अवनत कर लिया तब से हमारी सामाजिक अवनति होने लगी, जयदेव (गीतगोविंद-निर्माता) के कृष्ण

की नकल करने में सब लग गए पर 'महाभारत' के कृष्ण को कोई याद भी नहीं करता है"।

श्रीकृष्ण को हिंदू जाति क्या समझ बैठी है, इसका उल्लेख श्रीबंकिम ने इस प्रकार किया है—

"पर अब प्रश्न यह है कि भगवान् को हम लोग क्या समझते हैं। यही कि वह बचपन में चोर थे, दूध दही मक्खन चुराकर खाया करते थे। युवावस्था में व्यभिचारी थे और उन्होंने बहुतेरी गोपियों के पातिव्रतधर्म को नष्ट किया, प्रौढ़ावस्था में वंचक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर द्रोणादि के प्राण लिए। क्या इसी का नाम मानव-चरित्र है? जो केवल शुद्ध सत्त्व है, जिससे सब प्रकार की शुद्धियाँ होती हैं और पाप दूर होते हैं, उसका मनुष्य-देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवच्चरित्र है?

"सनातनधर्मद्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्र की ऐसी कल्पना करने के कारण ही भारतवर्ष में पाप का स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसी को कभी जय प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं (बंकिमचंद्र) श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् मानता हूँ और उन पर विश्वास करता हूँ, अँग्रेजी शिक्षा से मेरा वह विश्वास और दृढ़ हो गया है, पुराणों और इतिहास में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र के चरित्र का वास्तव में कैसा वर्णन है, यह जानने के लिए मैंने जहाँ तक बना इतिहास और पुराणों का मंथन किया, इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचंद्र के विषय में जो पापकथाएँ प्रचलित हैं वह अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारों ने श्रीकृष्ण के विषय में जो मनगढ़ंत बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देने पर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान् मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपापरहित

आदर्श चरित और कहीं नहीं है। न किसी देश के इतिहास में और न किसी काव्य में।"

श्रीकृष्ण-चरित का मनन करनेवालों को श्रीबंकिमचंद्र की उक्त संमतियों पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र के रहस्य को अच्छी तरह समझकर उसके आधार पर यदि हम अपने जातिजीवन का निर्माण करें तो सारे संकट दूर हो जायँ। उदाहरण के तौर पर नेताओं को लीजिए। आजकल हमारे देश में नेताओं की बाढ़ आई हुई है, जिसे देखिए वही 'सार्वभौम नेता' नहीं तो 'आल इंडिया लीडर' है। इस बाढ़ को देखकर चिंता के स्वर में कहना पड़ता है--

'लीडरों की धूम है और फ़ालोअर कोई नहीं।
सब तो जनरल हैं, यहाँ आख़िर सिपाही कौन है?'

पर उनमें कितने हैं जिन्होंने आदर्श नेता श्रीकृष्ण के नेतृचरित्र से शिक्षा ग्रहण की है? नेता नितांत निर्भय, परम निष्पक्ष और विचारों का शुद्ध होना चाहिए, ऐसा कि संसार की कोई विपत्ति या प्रलोभन उसे किसी दशा में अपने व्रत से विचलित न कर सके।

महाभारत के युद्ध की पूरी तैयारियाँ हो चुकी हैं, संधि के सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं। धर्मराज युधिष्ठिर का सदय हृदय युद्ध के अवश्यंभावी दुष्परिणाम को सोचकर विचलित हो रहा है, इस दशा में भी वह संधि के लिए व्याकुल हैं, बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है, श्रीकृष्ण स्वयं संधिपक्ष में थे। संधि के प्रस्ताव को लेकर उन्होंने स्वयं ही दूत बनकर जाना उचित समझा। दुर्योधन जैसे स्वार्थांध कपट-कुशल और 'जीते जुआरी के' दरबार में ऐसे अवसर पर दूत बनकर जाना, जान से हाथ धोना, दहकती हुई आग में कूदना था। श्रीकृष्ण के दूत बनकर जाने के प्रस्ताव पर सहसा कोई सहमत न हुआ।

दुर्योधन की कुटिलता और क्रूरता के विचार से श्रीकृष्ण का व
जाना किसी ने उचित न समझा, इस पर खूब वादविवाद हुआ
उद्योगपर्व का वह प्रकरण 'भगवद्यानपर्व' बड़ा अद्भुत औ
हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण के संधि-प्रस्ताव
लेकर जाने का वर्णन है। श्रीकृष्ण जानते थे कि संधि
प्रस्ताव में सफलता न होगी, दुर्योधन किसी की माननेवा
जीव नहीं है। यात्रा आपज्जनक है, प्राणसंकट की संभाव
है, पर कर्तव्यानुरोध से जान पर खेलकर भी उन्हों ने वहाँ जा
ही उचित समझा।

दुर्योधन को जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं
उसने श्रीकृष्ण को साम, दान, दंड, भेद द्वारा जाल में फँसा
का कोई उपाय उठा न रक्खा। मार्ग में जगह-जगह उन
स्वागत का धूमधाम से प्रबंध किया गया। रास्ते की सड़कें
सजाई गईं। दुर्योधन जानता था कि सब कुछ श्रीकृष्ण के हा
है, जो वह चाहेंगे वही होगा, उनकी आज्ञा से पांडव अप
सर्वस्व त्याग कर सकते हैं, श्रीकृष्ण को काबू में कर लिया जा
तो बिना युद्ध के ही विजय हो सकती है, श्रीकृष्ण के बलबूते प
ही पांडव युद्ध के लिए सन्नद्ध हो रहे हैं। निदान दुर्योधन
श्रीकृष्ण को फँसाने की प्राणपण से चेष्टा की। पर 'अच्यु
श्रीकृष्ण अपने लक्ष्य से कब चूकनेवाले थे। संधि का प्रस्ता
स्वीकृत न हुआ। दुर्योधन कर्ण, शकुनि आदि अपने साथि
के साथ सभा से उठकर चला गया। जब उसने साम, दान
काम बनते न देखा तो आवश्यक दंड देने—क़ैद कर लेने—
षड्यंत्र रचा, उन्हें अपने घर पर निमंत्रित किया। दुर्योध
की इस दुरभिसंधि को विदुर आदि दूरदर्शी ताड़ गए, उन्हों
श्रीकृष्ण को वहाँ जाने से रोका। श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कु
समझते थे, पर वह जिस काम को आए थे उसके लिए एक बा

फिर प्राणपण से प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा, वह दुर्योधन के घर पहुँचे, और निर्भयतापूर्वक संधि का औचित्य समझाया। पांडवों की निर्दोषता और दुर्योधन का अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकारकर चलने लगे, दुर्योधन ने भोजन के लिए आग्रह किया, इस पर जो उचित उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया वह उन्हीं के योग्य था। कहा कि—

'संप्रीतिभोज्यान्यन्नानि ह्यापद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥'

अर्थात् या तो प्रीति के कारण किसी के यहाँ भोजन किया जाता है, या फिर विपत्ति में—दुर्भिक्षादि संकट में। तुम हमसे प्रेम नहीं करते और हम पर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आई है, ऐसी दशा में तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें?

इस प्रत्याख्यान से क्रुद्ध होकर दुर्योधन ने उन्हें घेरकर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रम ने उसे परास्त कर दिया, वह अपनी धृष्टता पर लज्जित होकर रह गया।

पांडव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्ण के संबंधी थे, दोनों ही उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिए समानरूप से प्रयत्नशील थे। 'लोक-संग्रह' के तत्त्व से भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने आजकल के जमानासाज लीडरों की तरह 'सर्वप्रियता' या हरदिल-अजीजी में फँसकर अपने करारेपन को दाग नहीं लगाया। मेल-मिलाप की मोहमाया में भूलकर न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म नहीं बताया। निरपराध को अपराधी बताकर अपनी 'समदर्शिता' या 'उदारता' का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़कर दुर्योधन को समझाने गए और भयानक संकट के भय से भी कर्तव्य पराङ्-

मुख न हुए। एक आजकल के लीडर हैं किसी दुर्घटना को रोकने के लिए तार पर तार दिए जाते हैं, पधारने की प्रार्थना की जाती है, 'पर हमारी कोई नहीं सुनता' कहकर टाल जाते हैं। पहुँचते भी हैं तो उस वक्त जब मारकाट हो चुकती है, सो भी सरसरी तहकीकात के बहाने लीपापोती के लिए। लेकचर देना और तहकीकात के लिए पहुँच जाना, लीडरी के लिए इतना ही काफी है। 'गोली बीस कदम तो बंदा तीस कदम !'

श्रीकृष्ण ने अपने सगे संबंधी, पर अन्यायी, दुर्योधन का निमंत्रण स्वीकार नहीं किया। और एक यह आजकल के लीडर हैं जो हर कहीं निमंत्रण पाने के प्रयत्न में रहते हैं। आज अपमानित होकर असहयोग की घोषणा करते हैं कल उड़ती चिड़िया के द्वारा निमंत्रण पाकर सहयोग करने दौड़ते हैं ! इन्हें ही लक्ष्य करके कवि ने कहा है :—

'कौम के गम में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ।
रंज लीडर को बहुत है मगर आराम के साथ ॥'

निस्संदेह सभी लीडर ऐसे नहीं हैं कुछ इसका अपवाद भी हो सकते हैं।

हमारे इस युग के लीडरों में तिलक महाराज ने श्रीकृष्ण-चरित के तत्त्व को सबसे अधिक समझा था, और उनकी दृढ़ता और तेजस्विता का यही कारण था, महाभारत का भगवच्चरित्र उनके मनन की सबसे प्रिय वस्तु थी। मालवीयजी महाराज और श्रीलालाजी भी श्रीकृष्ण के अनुयायी भक्तों की श्रेणी में थे।

आर्यजाति के लीडर और शिक्षित युवक श्रीकृष्णचरित को अपना आदर्श मानकर यदि अपने चरित्र का निर्माण करें तो देश और जाति का उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे।

———

आठवीं सुरभि—

(श्री पं० रामचंद्र शुक्ल)

मनोभावों पर आपके अत्यंत विवेचनापूर्ण साहित्यिक निबंध प्रसिद्ध हैं। ऐसे विचारात्मक साहित्यिक निबंध और देखने में नहीं आए। विवेचन का मार्ग प्रशस्त करने के लिए आवश्यकता होती है सम्यक् विभाजन की। विभाजन का ऐसा वैशिष्ट्य इन निबंधों में मिलता है कि विषय का स्वरूप भली भाँति हृदयंगम हो जाता है। इनमें 'व्याप्ति' का ऐसा सच्चा मानदंड सामने रखा गया है कि फैले हुए या उलझे हुए विषय को सिमटने या सुलझने में विलंब नहीं लगता। लक्षण दोनों प्रकार के मिलते हैं—तटस्थ भी और स्वरूप भी। पर अधिकतर स्वरूप-लक्षण से ही काम लिया गया है क्योंकि विषय की विवृति के लिए वही अधिक उपयोगी जान पड़ता है। स्थान स्थान पर विनोद के छींटे भी रहते हैं। व्यंग्यविनोद चुटीला पर गंभीर हुआ करता है और संकेत प्रसंगगर्भ।

८.

उत्साह

दुःख के वर्ग मेँ जो स्थान भय का है वही स्थान आनंद के वर्ग मेँ उत्साह का है। भय मेँ हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप मेँ दुखी और कभी कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैँ। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग मेँ अवश्य प्रयत्नवान् होते हैँ। उत्साह मेँ कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म मेँ प्रवृत्त होनें के आनंद का योग रहता है। साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। [कर्म-सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैँ।]

जिन कर्मों मेँ किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनंद उत्साह के अंतर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैँ। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्धवीर, दानवीर, दयावीर इत्यादि भेद किए हैँ इनमेँ सबसे प्राचीन और प्रधान युद्धवीरता है, जिसमेँ आघात पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवा नहीँ रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यंत प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमेँ साहस और प्रयत्न दोनोँ चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैँ। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस मेँ ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीँ होता। उसके साथ आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह

नहीँ। इसी प्रकार चुपचाप विना हाथ-पैर हिलाए घोर प्रहार सहन के लिए तैयार रहना साहस और कठिन से कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैँ जब कि साहसी या धीर उस काम को आनंद के साथ करता चला जायगा, जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैँ। सारांश यह कि आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा मेँ ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस मेँ नहीँ। धृति और साहस दोनोँ का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दानवीर मेँ अर्थ-त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होनेवाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अंतर्हित रहती है। दानवीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह मेँ किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही अधिक समझी जायगी। पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनंद के चिह्न न दिखाई पड़ेँगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार मेँ और भी ऐसे विकट काम होते हैँ जिनमेँ घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की संभावना रहती है। अनुसंधान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतोँ की चढ़ाई, ध्रुवदेश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर वर्बर जातियोँ के अज्ञात घोर जंगलोँ मेँ प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैँ। इनमेँ जिस आनंदपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैँ वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की संभावना से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निंदा, अपमान इत्यादि का भय रहता है उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसीलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायँगे। लोगों में उनका वैसा आदर-संमान न रह जायगा। उनके लिए मान-ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निंदास्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं दूसरी ओर भारी वेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निंदा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं; उसकी ओर उनका ध्यान लेशमात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उसकी वाह-वाही से उत्पन्न आनंद की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निंदा या अपमान की कुछ परवा नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या

साहस—भाव की दृष्टि से—कहीँ अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा की—चाहे वह वास्तव मैँ हानिकारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़नेवालोँ की निंदा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैँ।

समाज-सुधार के वर्तमान आंदोलनोँ के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गंभीर पुरुष पाए जाते हैँ उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियोँ द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान् भी बहुत मिलते हैँ। [मैँ ने कई छिछोरोँ और लंपटोँ को विधवाओँ की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लंबे-चौड़े दास्तान हरदम सुनते-सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव मैँ काम-कथा के रूप मैँ ऐसे वृत्तांतोँ का तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैँ। इस ढाँचे के लोगोँ से सुधार के कार्य मैँ कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने की संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र मैँ भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाए जाते हैँ।]

उत्साह की गिनती अच्छे गुणोँ मैँ होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्तव्य कर्मोँ के प्रति इतना सुंदर दिखाई पड़ता है, अकर्तव्य कर्मोँ की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीँ प्रतीत होता। आत्म-रक्षा, पररक्षा, देशरक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौंदर्य को परपीड़न, डकैती आदि कर्मोँ का साहस कभी नहीँ पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार मैँ थोड़ी-बहुत होती ही है। अत्याचारियोँ या डाकुओँ के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैँ।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्ममात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों में साहस अपेक्षित नहीं होता, पर थोड़े-बहुत आराम, विश्राम, सुबीते इत्यादि का त्याग सबमें करना पड़ता है, और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनंद का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों के त्यों आनंदित होकर बैठे रह जायँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और ठहरने आदि के प्रबंध में प्रसन्न-मुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्मसंकल्प उत्साह नामक आनंद के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धिवीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं—शस्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में।

हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभि-व्यक्ति होती है; अतः कर्मवीर ही कहना ठीक है।

बुद्धिवीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनंद के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे; बुद्धिवीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्सव में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अंत तक पूरी कर्म-शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलतारूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनंद की तरंगें उठती हैं वे ही सारे प्रयत्न को आनंदमय कर देती हैं [युद्धवीर में विजेतव्य जो आलंबन कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्मप्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनंद और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता]सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दानवीर, दयावीर और धर्मवीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दयावश, श्रद्धावश या कीर्ति-लोभवश दिया जाता है। यदि श्रद्धावश दान दिया जा रहा है तो दानपात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दयावश

दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलंबन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उसी की ओर उत्साही का साहसपूर्ण आनंद उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलंबन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीर रस में नहीं। वात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनंद का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनुमान उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं, समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के संवंध में जहाँ आनंदपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनंद होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है-

१—कर्म-भावना से उत्पन्न,

२—फल-भावना से उत्पन्न और

३—आगंतुक, अर्थात् विषयांतर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनंद को ही सच्चे वीरों का आनंद समझना चाहिए, जिसमें साहस का प्रयोग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उसी समय उसमें उतना आनंद भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और

फल के बीच या तो कोई अंतर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्तक आनंद की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

[फल की भावना से उत्पन्न आनंद भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है।] पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वहाँ कर्म-विषयक आनंद उसी फल की भावना की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब जब फल की भावना मंद पड़ती है—उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है—तब तब आनंद की उमंग हो जाती है और उसी के साथ उद्योग में शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुःखी होता है; पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में उस फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेश मात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्म-शृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनंद की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाय कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय

व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यंत प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन से कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचानेवाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनंद शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्णराशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनंद मिलता जायगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्णराशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फलप्राप्ति-काल के अंतर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छा मात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी

उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाय या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

[फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या सरल करना पड़े और फल बहुत सा मिल जाय।] श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए, फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य ही काफी है। जिस आनंद से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनंद कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनंद-पूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी; क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जितना जीवन बीता वह संतोष या आनंद में बीता, उसके उपरांत फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से ही कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न-क्रम के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई परंपरा का नाम ही

प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषध ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है—प्रत्येक नए उपचार के साथ जो आनंद का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनंद का अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी समय थोड़ा थोड़ा करके मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनंद का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनंद के कारण एक ऐसी तत्परता उत्पन्न होती है जो बहुत-से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत सा

लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग साहस कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनंद, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और हम क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाए रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

नवीं सुरभि—

(श्री सरदार पूर्णसिंह)

आपके कुछ ही लेख देखने में आए हैं पर उनकी आन-बान निराली है, उनमें प्रभविष्णुता है। ऐसी शैली में, ऐसी सबल भाषा में, ऐसे निबंध किसी ने नहीं लिखे। आरंभ में व्यंजकता की सच्ची विभूति के दर्शन गद्य में कराने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। वाक्यों की लघुता, भावों की क्षिप्रता, शैली की तरलता और विषय की नूतनता—इनमें सभी कुछ उपादेय है। बाह्य की ओर विशेष दृष्टि रखने से मनुष्य का अभ्यंतर कलुषित हो रहा है। जिसका अभ्यंतर स्वच्छ है उसका बाह्य कलुषित रह नहीं सकता, यदि रहे भी तो वह चंद्र-कलंक की भाँति नगण्य होगा। जिसका शील हिल गया वह किसी पर अपना प्रभाव जमा नहीं सकता। जिसका आचरण बना है वह सृष्टि का भूषण है; भले ही उसके पास धन, विद्या, बल आदि भौतिक ऐश्वर्य या बौद्धिक विभूति न हो। अपने कर्तव्य की निष्ठा मनुष्य को सच्चा मनुष्य क्या, देवता बना सकती है; आत्म-निर्भरता की आवश्यकता है, परमुखापेक्षिता की नहीं। सत् में असत् और असत् में सत् दोनों के दर्शन लेखक ने कराए हैं। मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनने का संकेत किया है, जो साहित्य का मुख्य कार्य है।

आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत की अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेतपत्रोंवाला है। इसमें नाममात्र के लिए भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सबके सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे-नाम, बे-निशान, बे-मकान – विशाल

आत्मा के आचरण में मौनरूपिणी सुगंध सदा प्रसरित हुआ करती है। [इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले-भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदाबाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरदृतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंध-मय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीँग जाते हैं।] आचरण के आनंद-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नए नए विचार स्वयं ही प्रगट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुत-पूर्व सुंदर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थ-वती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृ-भाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा—सबकी सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौनभाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चंद्रमा की मंद मंद हँसी का तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने

के पश्चात्, श्रीकेशवचंद्र सेन और महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह, गुजार दी, यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्दरहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्दरहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील, अचल-स्थिति-संयुक्त आचरण—न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न इंजील से, न कुरान से, न धर्मचर्चा से, न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद-मंद चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है। बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर, अति ऊँचा और गौरवान्वित मालूम होता है; परंतु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो डुबो कर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल कर करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मंदिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण में, तुम्हारी आँखों में धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने में अनंत काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे; परंतु अभी तक आचरण के सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोल

कर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और भाषा तो साधारण जीवन के चोचले हैं ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश में रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी हैं; परंतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे ? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरुमंत्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के अंतःकरण में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है। किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परंतु साहित्य और शब्द की गोलंदाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पँखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध, विषयवासना शांत हो जाय; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ—परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिए रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञानहीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा, कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवनव्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव

शब्द का नहीँ पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसजिद मैँ होते हैँ, परंतु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी स्वयं ईसा होता है, मंदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है, मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगंबर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए, चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा मैँ फैँक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने मैँ रहैँ या जायँ तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किसी देश मैँ, किसी जाति मैँ और किसी काल मैँ, कौन नहीँ समझ सकता? प्रेम का आचरण—क्या पशु और क्या मनुष्य—जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैँ। जगत् भर के बच्चोँ की भाषा इस भाष्य-हीन भाषा का चिह्न है। बालकोँ के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशोँ मैँ एक ही सा पाया जाता है।

एक दफे एक राजा जंगल मैँ शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ मैँ रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है, ओले पड़ रहे हैँ। ठंडी हवा उसकी हड्डियोँ तक को हिला रही है। प्रकृति ने इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक सरो-सामान से हीन कर दिया। इतने मैँ दूर, एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करके थका हुआ—भूखा और सर्दी से ठिठरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमैँ किसान, उसकी

स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग उसके आगे रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। अपने बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है, हे मनुष्य ! तू ईश्वर से क्या कम है ? तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।

शिकारी कई रूसों का जार ही क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर, अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियाँ बिक गईं। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को, उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में, देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे, परंतु राजा के अंतस् के मौन जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य की कलम गाड़ दी। शिकार में अचानक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का एक परमाणु मिल गया तब कौन कह सकता है कि शिकारी का जीवन अच्छा नहीं। क्या जंगल के ऐसे जीवन में, इसी प्रकार के व्याख्यानों से, मनुष्य का जीवन, शनैः शनैः नया रूप धारण नहीं करता ? जिसने शिकारी के जीवन के दुःखों को नहीं सहन किया उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह में किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास होता है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन में और क्या एक जाति के जीवन में—पवित्रता और

अपवित्रता भी जीवन के आचरण को भली भाँति गढ़ती है— और उस पर भली भाँति कुंदन करती है। जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण-संबंधी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढ़ता से कैसे ग्रहण करते। नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदासजी यदि कृष्णार्पण किए गए अपने हृदय को एक बार फिर उस नारी की सुंदरता निरखने में न लगाते और उस समय फिर एक बार अपवित्र न होते तो 'सूर-सागर' मेँ प्रेम का वह मौन व्याख्यान, आचरण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता? कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वंद्वी भाव से संसार के आचरणोँ मेँ एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीँ होता। यदि मेरी माडलिन वेश्या न होती तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह हमारी पूजनीया माता बनती? कौन कह सकता है कि ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने मेँ वैसी ही सहायक नहीँ हुई जैसी कि स्वयं ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच, भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैँ। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि अपवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् मेँ हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अंतरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थोँ के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैँ, क्या पता है किन किन कूपोँ से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैँ? जिनकोँ हम धर्मात्मा

कहते हैं, क्या पता है, किन किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं ? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता में लिप्त रहे हों? अपने जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपना नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ ? बहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगंबर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नए पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के ?

जगत् के अनेक संप्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं; पर अपने नेत्र तो अभी माया-पटल से बंद हैं—और धर्मानुभव के लिए मायाजाल में उनका बंद होना आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ ? वे भाव—वे आचरण जो उन आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अंतर्गत मौनावस्था में पड़े हुए हैं, उनके साथ मेरा संबंध, जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार न हो जाय तब तक, हो ही कैसे सकता है ? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं; टूटे-फूटे शब्द भी अपने अर्थ भासित कर सकते हैं, तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसकी आँखों में

उसी महात्मा का चिह्न है जिसका चिह्न उत्तम उत्तम पदार्थ हैं। राजा मैं फकीर छिपा है और फकीर मैं राजा। बड़े से बड़े पंडित मैं मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख मैं पंडित। वीर मैं कायर और कायर मैं वीर सोता है। पापी मैं महात्मा और महात्मा मैं पापी छिपा हुआ है।

यह आचरण, जो धर्म-संप्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हम मैं कहाँ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये संप्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन संप्रदायों के नाम से हमारा खून करें? कोई भी धर्म-संप्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-संप्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचारण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्री का—जो संसारसंभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन मैं वर्तमान है उन सबका—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के संबंध मैं विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण को संघटित करनेवाले धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना बड़ा महात्मा क्यों न हो वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचारण-शील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसी से उसके बनाए हुए रास्ते पर चलकर हम भी

अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे मेँ नहीँ ढाल सकते। हमेँ अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली की एक एक चोट से रात-दिन बनाना पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही चलानी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीँ तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन ? जब तक मैँ अपना हथौड़ा ठीक ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप मेँ गढ़ लेता हूँ तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीँ तो न होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या ? जब तक मैँ अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का मान नहीँ तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है ? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय मेँ इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय मेँ भी अपने जहाज को नहीँ छोड़ता तब तक वह मेरी और तेरी दृष्टि मेँ शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बुरी बातोँ से हमेँ प्रयोजन ही क्या ? आँधी हो—बरफ हो—बिजली की कड़क हो—समुद्र का तूफान हो—वह दिन-रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिए जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह जहाज के साथ समुद्र मेँ डूब जाता है; परंतु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नहीँ करता। क्या उसके आचारण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दोँ के भाव से कम महत्त्व का है ?

न मैँ किसी गिरजे मेँ जाता हूँ और न किसी मंदिर मेँ; न मैँ नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ; न संध्या ही करता हूँ, न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी

के आगे मैँने सिर ही झुकाया है। इन सबसे प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या? मैँ तो अपनी खेती करता हूँ; अपने हल और बैलोँ को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ; मेरा जीवन जंगल के पेड़ोँ और पत्तियोँ की संगति मैँ बीतता है; आकाश के बादलोँ को देखते-देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैँ किसी को धोखा नहीँ देता; हाँ यदि मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीँ। मेरे खेत मैँ अन्न उग रहा है; मेरा घर अन्न से भरा है; बिस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है; कमर के लिए एक लँगोटी और सिर के लिए एक टोपी बस है। हाथ पाँव मेरे बलवान हैँ; शरीर मेरा निरोग है; भूख खूब लगती है; बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चोँ के लिए खाने को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई मैँ वह मिठास नहीँ जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न भिन्न धर्म-संप्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातोँ द्वारा दीक्षा दिया करते हैँ?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दोँ पर लिटा दिया—जब आलस्य और विषय-विकार की लंपटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दंड जीवन से रोमवालोँ का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियोँ और बिस्तरोँ पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका। ऐंगलो-सैकसन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से संबंध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लड़ने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होने-वाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैँ कि केवल धर्म

ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परंतु वह धर्मांकुर जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पाप-मय जीवन की गंदी राख की ढेर के ऊपर नहीँ उगता है। मंदिरोँ और गिरजोँ की मंद-मंद टिमटिमाती हुई मोमबत्तियोँ की रोशनी से यूरोप इस उच्चावस्था को नहीँ पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देश-देशांतरोँ को ढूँढ़ते फिरते रहने के बिना शांति नहीँ मिलती, जिसकी अंतर्ज्वाला दूसरी जातियोँ को जीतने, लूटने-मारने और उन पर राज करने के बिना मंद नहीँ पड़ती—केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ोँ को फाँदकर उनको उस महत्ता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिन हुड की प्रशंसा मेँ इँगलैंड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च देते हैँ उन्हेँ तत्त्वदर्शी कहना चाहिए; क्योँ कि राबिन हुड जैसे भौतिक पदार्थोँ से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अँगरेज वीरोँ की हड्डियाँ तैयार हुई थीँ। लड़ाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ोँ आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीँ अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि यूरोप के समुद्रोँ मेँ जंगी जहाज मक्खियोँ की तरह न फैल जाते और यूरोप का घर-घर सोने और हीरे से न भर जाता तो वहाँ पदार्थ-विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी भी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य-जाति ने पहन रखा है यूरोप को कदापि न प्राप्त होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिए यूरोप-निवासी इतने कमीने

न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिए अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ यूरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—वहाँ दूसरी ओर यूरोप के जीवन का वह भाग, जिसमेँ विद्या और ज्ञान के ऋषियोँ का सूर्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय मेँ पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायँगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिससे वह प्रकाश और वायु में खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत से हाथ एक अनंत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहेँ। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियोँ को हमेशा कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीँ हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का, और क्या जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाए बिना, सारी प्रकृति को हवा मेँ उड़ाए बिना, भला, कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीँ उड़ाना है, उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रोँ मेँ डोरा डालकर अमृत निकालना है। सो भी कितना? जरा सा! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे बिठाए ही वह मिल सकता है?

हिंदुओँ का संबंध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश मेँ अधिक बलवान श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनके भी ऋषि पराक्रमी, जनरल और धीर-वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदोँ के

ऋषियोँ के पवित्रता-मय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहंकार मैँ मग्न हो रहे हैँ और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैँ। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते तो उनमैँ भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी बन जाना तो आसान है; परंतु ऋषियोँ को अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी बनाना कठिन है, क्योँ कि ऋषि तो केवल अनंत प्रकृति पर सजते हैँ; हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैँ। माना कि प्राचीन काल मैँ, यूरोप मैँ सभी असभ्य थे, परंतु आजकल तो हम असभ्य हैँ। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषिजीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियोँ के जीवन की शय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलोँ को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमोँ का पालन करना है।

तारागणोँ को देखते देखते भारतवर्ष अब समुद्र मैँ गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न मैँ देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैँ रोटी के बिना जी सकता हूँ; हवा मैँ पद्मासन जमा सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ; योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओँ के गूढ़ भेदोँ को जान सकता हूँ; समुद्र की लहरोँ पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परंतु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि मैँ ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो भारतवासियोँ का इस असार संसार से कूच हुआ।

लेखक का तात्पर्य केवल यह है कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस-घिसकर बनता है, उसके फूल तो सूर्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से वारंवार भींगकर और सूख कर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो ? अपनी अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते ? अपनी अपनी कुदाली हाथ में लेकर क्यों आगे नहीं बढ़ते ? पीछे मुड़-मुड़कर देखने से क्या लाभ ? अब तो खुले जगत् में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुममें से हरएक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही। अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडंबरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई ! माला से जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है; समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी पानी, और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी के झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज में बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चंद्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी बड़ी दो रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटिया में बैठकर ही धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनंद आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने ही पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक

सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्ध आचरण की पूरी परीक्षा नहीँ। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीँ—तब तक जगत् मेँ, आचरण की सभ्यता का राज्य नहीँ।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमेँ न शारीरिक झगड़े हैँ, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमेँ विद्रोह है, न जंग ही का नामो-निशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा, न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है।

जिस समय बुद्धदेव ने स्वयं अपने हाथोँ से हाफिज शीराजी का सीना उलटकर उसे मौन-आचरण का दर्शन कराया उस समय फारस मेँ सारे बौद्धोँ को निर्वाण के दर्शन हुए और सबके सब आचरण की सभ्यता के देश को प्राप्त हो गए।

जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानोँ को आश्चर्य हुआ कि काफिर मेँ मोमिन् किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दोँ को परे फेँककर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तब हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था। हम तो एक दूसरे मेँ छिपे हुए हैँ। हरएक पदार्थ को परमाणुओँ मेँ परिणत करके उसके प्रत्येक परमाणु मेँ अपने आपको ढूँढ़ना—अपने आपको एकत्र करना—अपने आचरण को प्राप्त करना है। आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलोँ की शय्या हो चाहे काँटोँ की; चाहे निर्धन हो चाहे धनवान्; चाहे राजा हो

चाहे किसान; चाहे रोगी हो चाहे निरोग, हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमैं सारा संसार विस्तर लगाकर आनंद से आराम कर सकता है, जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप और रंग अपनी अपनी शोभा मैं बेखटके निर्भय होकर स्थित रह सकते हैं। आचरणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—"सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है।" जिस समय आचरण की सभ्यता संसार मैं आती है उस समय मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनाई देती है, नर-नारी पुष्प-वत् खिलते जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारंभ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, जहाँ ऐसी ज्योति होती है, वहाँ आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं; चाहे वेदों मैं, चाहे इंजील मैं, चाहे कुरान मैं, चाहे त्रिपिटक मैं, चाहे इस स्थान मैं, चाहे उस स्थान मैं कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावैं। लेखक ने यह चित्र इसलिये अंकित किया है कि इस चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

———

दसवीं सुरभि—

(श्री सुदर्शन)

आजकल संस्मरण लिखने की नूतन प्रणाली निकली है। यह भी साहित्य की, गद्य की विशेष शाखा बन रही है। यों तो इसके न जाने कितने रूप होंगे। पर अभी दो रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक में लेखक जिसका संस्मरण लिखता है उसी के रूप को झलकाता है दूसरे में वह अपने रूप को भी झलकाता चलता है। संस्मरण का यह पहला प्रकार है। प्रेमचंद जी और सुदर्शन जी दोनों उर्दू शैली में लिखते थे। हिंदी शैली में ये बाद में आए। इसी से इनकी शैली मिली-जुली है, पर है प्रवाहपूर्ण।

प्रेमचंद : स्मृतियाँ

१६०६ या '१० की बात है। मैं ने कानपुर के मशहूर उर्दू मासिक पत्र 'ज़माना' में प्रेमचंद जी की पहली[1] कहानी 'ममता' पढ़ी और पढ़कर उछल पड़ा। भाषा का इतना चमत्कार, भावों की ऐसी गहराई और कथानक का ऐसा स्वाभाविक विकास मैं ने उससे पहले उर्दू में कभी न देखा था। अलिफ़-लैला, बागोबहार और तलिस्मे-होशरुबा की अनदेखी और अनहोनी कहानियों से उकताया हुआ मन प्रेमचंद की यह मानव-भावों से रँगी हुई कहानी पढ़कर मुग्ध हो गया। कई दिन तक इस कहानी को पढ़ता रहा और चटखारे लेता रहा। यहाँ तक कि लगभग सारी कहानी जबानी याद हो गई और दूसरे महीने के 'ज़माना' में दूसरी कहानी निकल आई। अब इस कहानी का पाठ शुरू हुआ। इस तरह प्रेमचंद की कहानियाँ पढ़ते हुए कई साल बीत गए। जी चाहता था ऐसे कलाकार से पत्र-व्यवहार करूँ। मगर अपनी उम्र और योग्यता देखकर डर जाता था। सोचता था, जाने जवाब दें या न दें; इतने बड़े आदमी हैं; उनके पास हजारों पत्र आते होंगे। कई बार ऐसा हुआ कि पत्र लिखा और फाड़ डाला। मन में चाव था मगर हिम्मत न थी। उस जमाने में मैं ने भी कलम चलाना शुरू कर दिया था और लोग

---

१ इसके पहले प्रेमचंद जी धनपतराय और नवाबराय के नाम से लिखा करते थे। चुनांचे उनकी कहानियों का एक संग्रह 'सोज़े वतन' नवाबराय के नाम ही से प्रकाशित हुआ था।

मेरी कहानियों को पसंद करने लगे थे। यहाँ तक कि 'ज़माना' के संपादक मुंशी दयानारायण निगम ने भी एक आध बार कहानी की फरमाइश की। मगर इस पर भी प्रेमचंद जी को पत्र लिखते हुए डर लगता था।

× × × ×

आखिर १९२५ में जब मुझे सिवान आर्यसमाज के वार्षिक उत्सव पर बुलाया गया तो मैंने फैसला किया कि अबके प्रेमचंद जी से भी मिलता जाऊँगा। चुनांचे उत्सव की समाप्ति पर बनारस पहुँचा और वहाँ प्रेमचंद जी के गाँव की राह ली। उस समय मन में क्या-क्या विचार उठते थे, यह कहने की बात नहीं, मगर वहाँ पहुँचकर सारा उत्साह बैठ गया—प्रेमचंद जी घर पर न थे। एक चिट लिखी और निराश होकर लौट आया। दूसरे दिन गंगा से नहाकर होटल आया तो देखता क्या हूँ कि मेरे कमरे के दरवाजे पर एक साहब बैठे किसी का इंतजार कर रहे हैं। मुझे देखते ही वे उठ बैठे और मुस्कराकर बोले—नमस्ते।

मैंने समझा उन्हें धोखा हुआ है, जवाब दिया—आप किससे मिलना चाहते हैं?

'महाशय सुदर्शन से। मैं प्रेमचंद हूँ।'

मैं फौरन उनके पाँव की तरफ झुका, मगर उन्होंने मुझे गले से लगा लिया और बोले—मुझे अफ़सोस है कल आपको बेहद जहमत उठानी पड़ी। मगर भाईजान! आज मुझे भी सजा मिल गई। दो घंटे से बैठा हूँ।

इस भाईजान के लफ्ज ने मेरा मन मोह लिया। दस पंद्रह मिनटों में हम दोनों बेतकल्लुफ़ हो गए। ऐसे, जैसे हम अजनबी न थे; बरसों के दोस्त थे। शाम तक बातें होती रहीं। मैंने कुरेद-कुरेदकर सवाल किए और उन्होंने खुल-खुलकर

जवाब दिए। इस पहली ही मुलाक़ात में मुझपर ज़ाहिर हो गया कि जो इनके मन में है वही मुँह पर है। वह कोई बात छिपाकर नहीं रखते। यह इनके स्वभाव में नहीं है।

मैं ने पूछा—आपने नवाबराय नाम क्यों छोड़ दिया?

हँसकर बोले—नवाब वह होता है जिसके पास कोई मुल्क भी हो। हमारे पास मुल्क कहाँ?

'बे-मुल्क नवाब भी होते हैं!'

'यह कहानी का नाम हो जाय तो बुरा नहीं, मगर अपने लिए यह नाम घमंडपूर्ण है। चार पैसे पास नहीं और नाम नवाबराय। इस नवाबी से प्रेम भला जिसमें ठंढक भी है, संतोष भी।

यह कहकर उन्हों ने बड़े जोर का कहकहा लगाया और बात उड़ा दी। उनका वह खुले दिल का कहकहा और घनी मूछों में से बाहर झाँकती हुई मुस्कराहट आज भी याद आती है तो कलेजे पर छुरियाँ सी चल जाती हैं, कि वह दिन कहाँ चला गया!

× × × ×

सन् १९२७। मैं ने लिखा—मेरी कहानियों का एक संग्रह 'बहारिस्तान' छपनेवाला है। मेरी इच्छा है कि उसमें आपकी भूमिका रहे। मगर डरता हूँ कि कोई मसलेहत आपके कलम को न पकड़ ले।

प्रेमचंद जी ने जवाब दिया—आजाद-रौ आदमी हूँ, मसलेहतों का गुलाम नहीं। आपकी कहानियों पर दीबाचा लिखने में मुझे क्या एतराज हो सकता है? हम भी एक दूसरे के काम न आएँगे तो और कौन आएगा?

इसके बाद उन्हों ने मेरी किताब पर भूमिका लिखी और

मेरी कहानियों की दिल खोलकर प्रशंसा की। इस घटना में उन साहित्यिकों के लिए एक शिक्षा है जो किसी दूसरे साहित्य-सेवी की प्रशंसा में दो शब्द कहते हुए भी समझते हैं कि इसमें उनकी शान मैली हो जायगी। प्रेमचंद जी में यह बात न थी। वह जिसको अच्छा समझते थे उसकी प्रशंसा करते थे। इतना ही नहीं, वे अपने लेखकों का उत्साह बढ़ाना भी अपना कर्तव्य समझते थे। चुनांचे कई लेखक जो आज हिंदी में काफी मशहूर हैं सबसे पहले प्रेमचंद जी की उँगली पकड़कर साहित्य-संसार में दाखिल हुए थे।

× × × ×

सन् १९२८ में जब मैं कानपुर में नौकर हो गया और कहानियाँ लिखने में कम समय देने लगा तो उन्हों ने लखनऊ से मुझे एक कड़ा पत्र लिखा। वह पत्र न था इबरत का ताज़ियाना था। शब्द ठीक ये न थे पर भाव कुछ इसी तरह का था—

मैं तो समझता था आप फारग-उल-बाल होकर अदब की ज्यादा खिदमत कर सकेंगे, मगर मेरा खयाल गलत निकला। अब महीनों गुजर जाते हैं और आपका कोई किस्सा किसी अखबार में नजर नहीं आता। चार नहीं दो सही, दो नहीं एक सही, लेकिन कुछ-न-कुछ तो हर महीने लिखते रहिए। इससे तो वह तंगदस्ती ही अच्छी थी जो आपसे कुछ-न-कुछ लिखवा लेती थी।

मगर जब मैं ने मिलकर अपनी हालत का बयान किया तो नरम पड़ गए। मैं ने कहा—कहिए तो नौकरी छोड़ दूँ। फौरन बोले—यह हिमाक़त न कर बैठना वरना मुझे कोसोगे। हिंदी प्रकाशकों में इतना दम कहाँ जो किसी लेखक को खाने पीने की तरफ से बेनयाज कर दें। उनकी बड़ी ख्वाहिश थी कि दो चार

लेखक मिलकर प्रकाशन का काम साझे में करें। मगर मौत ने मुहलत न दी।

× × × ×

उनसे अंतिम भेंट मार्च १६३४ में हुई।

उस वक्त मुझे वे कुछ दुबले से नजर आए। मगर लिखने का काम करते जाते थे। मैं जब मिलने के लिए गया, उस वक्त साँझ हो चुकी थी। वे तब भी लिख रहे थे। मैंने कहा—आप यह अपने ऊपर नहीं, हम लोगों पर जुल्म कर रहे हैं।

हँसकर बोले—शुक्र है हम भी किसी के जालिम तो हैं।

मैंने कहा—आप कहीं हवा पानी बदलने के लिए बाहर क्यों नहीं चले जाते ?

'बाहर जाने के लिए रुपया चाहिए।'

'अच्छा, जरा मेहनत कम किया करें।'

'मजदूर मेहनत न करेगा तो खायगा कहाँ से ?'

मगर प्रेमचंद जी पैसे के लिए मेहनत करते थे यह कहना उनका अपमान करना है। उनके मन में मानवजाति के लिए जो संदेशा आता था वह उसे लोगों के सामने रखने के लिए लिखते थे। वरना रुपया कमाना चाहते तो इतना कमा सकते थे कि उन्हें किसी चीज की परवाह न रहती। लेकिन उन्होंने सदा सिद्धांत और कला का खयाल रखा है। रुपया उनके लिए गौण वस्तु रहा है। तकलीफ और संकट में रहकर भी उन्होंने सेवा के महान् आदर्श को आँखों से ओझल नहीं होने दिया, यह उनके महापुरुष होने का द्योतक है।

मैंने कहा—आप इन अखबारों को बंद क्यों नहीं कर देते अभी तक घाटे में जा रहे हैं।

प्रेमचंद जी ने जवाब दिया—आज आप कहते हैं अखबार

बंद कर दो। कल कहेंगे किताबें लिखना छोड़ दो। मैं आपका कहा कहाँ तक मानूँ।

मुझे अपनी जबान बंद होती मालूम होने लगी, मगर मैं हिम्मत न हारा, कहा—आखिर यह तपस्या आप ही क्यों करें ?

प्रेमचंद जी का मुस्कराता हुआ चेहरा और भी मुस्कराने लगा, बोले—आप जिसे तपस्या कहते हैं मैं उसे भोग समझता हूँ। तपस्या जब हो जब तकलीफ हो। मुझे तो इसमें बराबर मजा आता है और जिसमें आदमी को मजा मिले वह भोग है।

मेरी आँखों के सामने से परदा हट गया। प्रेमचंद ऐसे बड़े, ऐसे ऊँचे, निःस्वार्थ मेरी आँखों में कभी न थे। मेरा जी चाहा उनके पैरों पर गिर पड़ूँ, मगर .....

प्रेमचंद जी ने फिर कहा—भाईजान ! सिर्फ रुपया कमाना ही आदमी का उद्देश्य नहीं है। मनुष्यत्व को ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊँचा विचार पैदा करना भी उसका कर्तव्य है। अगर यह नहीं है तो आदमी और पशु दोनों बराबर हैं। और जिसके हाथ में भगवान् ने कलम और कलम में तासीर दी है उसका कर्तव्य तो और भी बढ़ जाता है।

आज ये शब्द याद आते हैं तो दिल पर हथौड़ा-सा लगता है कि हिंदी-साहित्य ने कितना ऊँचे दरजे का कलाकार खो दिया।

× × ×

लेकिन शोक इस बात का है कि हिंदीवालों ने अभी तक अपने इतने महान् कलाकार को पूरे तौर पर नहीं पहचाना। वरना असंभव था कि आज प्रेमचंद की किताबों की घर घर पूजा न होने लगती। प्रेमचंद साधारण कलाकार न थे, भाव और भाषा के बादशाह थे। मुरदा से मुरदा विषय को भी लेते

थे तो उसमें जान डाल देते थे। उनकी रचना पढ़ने के लिए हमको अपने ऊपर जोर नहीं देना पड़ता। हम उसमें बहते चले जाते हैं। हर कहानी पढ़कर हमको मालूम होता है कि हमने जीवन का कोई नूतन चित्र देखा है। हमें अपने दिल की आँखे खुलती मालूम होती हैं, हमें मालूम होता है, किसी ने हमारे मन के तारों पर उँगली रख दी है, किसी ने हमारा दिल पकड़ लिया है, किसी ने हमें नया रास्ता दिखा दिया है। जो चित्र और चरित्र हम रोज देखते हैं और जिसमें हमें कोई विशेष बात नहीं नजर आती, प्रेमचंद जब उन पर से परदा उठाकर हमें भीतरी रहस्य दिखाते हैं तो वहाँ हमें ऐसी मोहिनी नजर आती है कि मन नाचने लगता है। ग्रामजीवन के जो जीते जागते और भावपूर्ण चित्र उन्होंने हमारे सामने रखे हैं उन्हें भारतवर्ष सदियों तक याद रखेगा और सिर धुनेगा।

× × ×

अभी प्रेमचंद के मरने के दिन न थे। अभी वह बहुत कुछ कहना चाहते थे और हम बहुत कुछ सुनना चाहते थे। प्रेम, पवित्रता और प्रकाश की व्याख्या जो वे करना चाहते थे वह अभी तक पूरी न हुई थी। जीवन और जगत का जो संगीत उन्होंने शुरू किया था वह अभी अधूरा ही था कि मौत के निर्दयी हाथों ने उनका मुँह बंद कर दिया।

बड़े शौक़ से सुन रहा था ज़माना।
तुम्हीं सो गए दास्ताँ कहते कहते ॥

———

ग्यारहवीं सुरभि—

(श्री महादेवी वर्मा)

रेखाचित्र निबंध की एक शाखा निकल पड़ी है जिसमें किसी के जीवन और स्वभाव का अंकन प्रमुख होता है। अलोपी के जीवन का अंकन मार्मिकता के साथ किया गया है। इसमें हृदय को बारंबार सहज रूप में सामने रखा गया है। वर्माजी की भाषा क्या है कविता है। पर उसके द्वारा हृदय की अस्पष्ट रेखाएँ बड़े ही कटकीने से उभार दी गई हैं।

अलोपी

अंधे अलोपी के घटना-शून्य जीवन में उपयोगिता का एक भी परमाणु है या नहीं इसकी खोज कोई तत्त्व-वैज्ञानिक ही कर सकेगा। मुझे तो उसकी कथा आँसूभरी दृष्टि की छाया में काँपते हुए दुख-गीत की एक कड़ी-सी लगती रही है।

मैं ने उसे कब देखा यह कहानी भी उसी के समान अपनी विचित्रता में करुण है।

वैशाख नए गायक के समान अपनी अग्निवीणा पर एक-से एक लंबा आलाप लेकर संसार को विस्मित कर देना चाहता था। मेरा छोटा घर गर्मी की दृष्टि से कुम्हार का देहाती आवाँ बन रहा था और हवा से खुलते बंद होते खिड़की दरवाजों के कोलाहल के कारण आधुनिक कारखाने की भ्रांति उत्पन्न करता था। मैं इस मुखर ज्वाला के उपयुक्त ही काम कर रही थी अर्थात् उत्तर-पुस्तकों में अंधाधुंध भरे ज्ञान-अज्ञान की राशि को विवेक में तपा-तपा कर ज्ञान-कणों का मूल्य निश्चित कर रही थी।

हम लोग भी कैसे विचित्र हैं। जब बर्फ, खस की टट्टी, बिजली के पंखे आदि अनेक कृत्रिम उपचारों से भी हम अपनी बुद्धि का पिघलना नहीं रोक सकते तब दूसरों के ज्ञान की परीक्षा लेने बैठते हैं। यदि मस्तिष्क ठीक स्थिति में हो तो कदाचित् हम न्याय के लिए ऐसे अन्यायपरायण हो ही न सकें।

तीसरा पहर थके यात्री के समान मानो ठहर-ठहरकर बढ़ रहा था और मेरे हाथ और दृष्टि में पृष्ठों पर दौड़ने की प्रतियोगिता चल रही थी। ऐसे अवसर पर किसी का भी आना हमारी अधीरता में झल्लाहट का पुट मिला देता है, उस पर यदि आगंतुक के कंठस्वर में हमें उसके भिखारीपन का आभास

मिल गया हो तब तो कहना ही क्या। नौकर-चाकर सब अपनी कोठरियों के स्वाभाविक अंधकार को और भी सघन करके स्वेच्छा से उलूक होने का सुख भोग रहे थे। सोचा न उठूँ। पुकारने-वाले को असमय आने का दंड सहना चाहिए। परंतु भिखारी के संबंध में मेरे संस्कार कुछ ऐसी तर्क-हीनता तक पहुँच चुके हैं जहाँ से अंध-विश्वास की सीमारेखा दूर नहीं रह जाती।

बचपन से बड़े होने तक माँ न जाने कितनी व्याख्या उप-व्याख्याओं के साथ इस व्यवहार-सूत्र को समझाती रही हैं कि हमारी शिष्टता की परीक्षा तब नहीं हो सकती जब कोई बड़ा अतिथि हमें अपनी कृपा का दान देने घर में आता है वरन् उस समय होती है जब कोई भूला-भटका भिखारी द्वार पर खड़ा होकर हमारी दया के कण के लिए हाथ फैला देता है।

माँ के जीवनकाल में ऐसे अनेक अवसर आए होंगे जब मुझे सीखा हुआ पाठ स्मरण नहीं रहा पर जब से वे अप्रसन्न होने की सीमा के पार पहुँच चुकी हैं तब से मुझे भूला हुआ भी सारी सूक्ष्म व्याख्याओं के साथ याद आने लगा है।

भिखारी की आवश्यकता से अधिक मुझे अपनी शिष्टता की परीक्षा का ध्यान था। निरुपाय उठना पड़ा। कई बार पुकारने के उपरांत पुकारनेवाली मूर्तियाँ पत्तों में दरिद्र नीम ही से छाया-याचना करने चल पड़ी थीं। ए, ओ आदि अपरिचय-बोधक संज्ञा में अपना आमंत्रण पहचानकर जब वे लौटीं तब उनके प्रतिपग पर मेरा कौतूहल पैर बढ़ाने लगा। चर्म के आवरण में से अपना विद्रोह प्रकट करनेवाले अस्थिपंजर के लिए फटे लंबे कुरते को दोहरा कारागार बनाए ११-१२ वर्ष का बालक लाठी को एक ओर से थामे आगे-आगे आ रहा था और ऊँची धोती और मैली बंडी में अपने कंकाल को यथासंभव

मुक्ति दिए एक अंधा लाठी के दूसरे छोर के सहारे टटोल-टटोल कर बढ़ते हुए पैरों से उसका अनुसरण कर रहा था।

खेत में लकड़ी पर औंधाई हुई मटकी जैसे सिर को हिलाते हुए प्रौढ़ बालक ने वृद्ध युवक को आगे कर न जाने क्या बताया; पर जब उसने ऊपर मुख उठाकर नमस्कार किया तब ऐसा जान पड़ा मानो नमस्कार का लक्ष्य खजूर का पेड़ है।

जीवन में पहली बार मेरा मन प्रश्न के उपयुक्त शब्दों की खोज में भटककर उस नेत्रहीन के सामने मूक-सा रह गया।

धूल के रँग के कपड़े और धूलभरे पैर तो थे ही, उसपर उसके छोटे-छोटे बालों, चपटे-से माथे, शिथिल पलकों की विरल बरुनियों, बिखरी-सी भौंहों, सूखे पतले ओठों और कुछ ऊपर उठी हुई ठुड्डी पर राह की गर्द की एक पर्त इस तरह जम गई थी कि वह आधे सूखे क्ले मॉडल के अतिरिक्त और कुछ लगता ही न था। दृष्टि के आलोक से शून्य छोटी-छोटी आँखें कच्चे काँच की मैली गोलियों के समान चमकहीन थीं जिनसे उस शरीर की निर्जीव मूर्तिमत्ता की भ्रांति और भी गहरी हो जाती थी।

कदाचित् इसी कारण उसके कंठ-स्वर ने मुझे अज्ञात-भाव से चौंका दिया।

इस वर्ग का जीवन खुली पुस्तक जैसा रहता है, अतः महान् ही नहीं तुच्छतम आवश्यकता के अवसर पर भी उसकी कथा आदि से अंत तक सुना देना सहज हो जाता है। इसके विपरीत हमारा जटिल से जटिलतम होता हुआ अंतर्जगत और कृत्रिम से कृत्रिम बनता हुआ जीवन ऐसी स्थिति उत्पन्न किए बिना नहीं रहता जिसमें बाहर के बगुलेपन को भीतर की सड़ी गली मछलियों से सफेदी मिलने लगती है। इसी से हमारी तार-तम्यहीन कथा अधिकाधिक अकथनीय बनती जाती है और सुख-

दुख की सरल सार्मिकता निर्जीव होने लगती है। हम सहज-भाव से अपनी उलझी कहानी कह नहीं सकते। अतः जब कहने बैठते हैं तब कल्पना का एक एक तार सत्य की अनेक झंकारों की भ्रांति उत्पन्न करके उसे और अधिक उलझाने लगता है।

अंधे अलोपी की कथा में न मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ हाथ लगीं और न समस्याओं की भूलभुलइया प्राप्त हुई। हाँ, उसकी दैन्यभरी वाचालता से पता चला कि चक्षु के अभाव की पूर्ति उसकी रसना ने कर ली और इस पंच प्रकार ज्ञानेंद्रियों में चाहे ज्ञान का उचित विभाजन न हो सका पर उसके परिमाण का संतुलन नहीं बिगड़ा।

उसका पिता काछी-कुलावतंस रहा, पर बहुत दिनों तक अपने भावी वंशधर की प्रतीक्षा करने के उपरांत उसे याचक के रूप में अलोपी देवी के द्वार पर उपस्थित होना पड़ा। अलोपी देवी कदाचित् उस उदार सूम के समान थीं जो अपने दानी होने की ख्याति के लिए दान करता है, याचक की आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं। उनके मंदिर से एक अखंडित मनुष्यमूर्त्ति भी न निकल सकी। एक पुत्र दिया वह भी नेत्रहीन। माँ-बाप ने उनके दान को उन्हीं के चरणों पर फेंक आने की कृतघ्नता तो नहीं दिखाई पर उनकी कृपणता की घोषणा कर अन्य याचकों को सावधान करने के लिए उसका नाम रख दिया अलोपीदीन।

वही अलोपीदीन अब तेइस वर्ष का हो चुका है और काछी पिता अंधे पुत्र से पितृऋण का व्याज-मात्र चुकाकर मूल को अपनी सेवा से चुकाने के लिए पितरों के दरबार में चला गया है। माँ तरकारियाँ लेकर फेरी लगाती है पर पुत्र को अच्छा नहीं लगता कि जवान आदमी बैठा रहे और बुढ़िया मर-मर

कर कमावे। इसी से शाक-तरकारियों के तत्त्ववेत्ता ताऊ से यहाँ की चर्चा सुन वह काम की खोज में निकल पड़ा है।

ऐसे आश्चर्य से मेरा कभी साक्षात् नहीं हुआ था। जीवन से अनजान किशोरों की संख्या कम नहीं जो सुख के साधनों के लिए उस माँ से झगड़ते हैं जिसकी उँगलियों के पोर सिलाई करते करते चलनी हो चुके हैं। कुलवधुओं के समान आँसू पीनेवाले युवकों का अभाव नहीं जिनका पौरुष न दरिद्र पिता का सब कुछ छीन लेने में कुंठित होता है और न भिक्षावृत्ति से मूर्च्छित। अपनी पराजय को विजय माननेवाले ऐसे पुरुषों से भी समाज शून्य नहीं जो छोटे बच्चों को छोड़कर दिन-दिन भर परिश्रम करनेवाली पत्नियों के उपार्जित पैसों से सिनेमा-घरों की शोभा बढ़ा आते हैं।

साधारणतः आज के पुरुष का पुरुषार्थ विलाप है। जितने प्रकार से, जितनी भावभंगियों के साथ, जितने स्वरों में वह अपने निराश जीवन का मसिया गा सके, अपनी असमर्थता का स्यापा कर सके उतना ही वह स्तुत्य है और उतना ही अधिक पुरुष नाम के उपयुक्त है।

अंधी आँखों को आकाश की ओर उठाकर अपने पुरुषार्थ की दोहाई देनेवाले अलोपी को ऐसी परंपरा के न्यायालय में प्राणदंड के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता था।

कुछ प्रकृतिस्थ होकर मैं ने प्रश्न किया 'तुम यहाँ कौन-सा काम कर सकते हो?' अलोपी पहले से ही सब सोच-समझकर आया था—वह देहात के खेतों से सस्ती और अच्छी तरकारियाँ लाएगा—मेरे लिए और छात्रावास की विद्यार्थिनियों के लिए।

अपने जीवनव्यापी अंधेरेपन में वह ऐसा व्यवसाय से उलझा हुआ कर्तव्य किस प्रकार सँभाल सकेगा, यह पूछने का

अवकाश न देकर अलोपी ने अपने फुफेरे भाई रग्घू की ओर संकेत कर बताया कि उन दोनों के संमिलित पुरुषार्थ से कठिनतम कार्य भी संभव होते रहे हैं।

प्रस्ताव अभूतपूर्व था पर मैं भी कुछ कम विचित्र नहीं, इसी से रग्घू और अलोपी अपने दुर्वल कंधों पर कर्तव्य का गुरु-भार लादकर लौटे।

दूसरे दिन सबेरे ही एक हाथ से रग्घू की लाठी का छोर थामे और दूसरे से सिर पर रखी वड़ी-सी छावड़ी सँभाले हुए अलोपी, 'मालिक हो ! मालिक हो !' पुकारने लगा।

मुझे क्या क्या पसंद है यह जानने के लिए जब वह अनुनय-विनय करने लगा तव मैं वड़ी कठिनाई में पड़ी। कुछ तरकारियाँ डाक्टरों ने मेरे पथ्य की सूची में नहीं रखी हैं और शेष के लिए सदा से यही नियम रहा है कि जो भक्तिन के विवेक को रुचे वह मुझे स्वीकृत हो। फिर जिसे वर्ष में, कुछ महीने दही पर, कुछ फल पर और कुछ खिचड़ी, दलिया आदि पथ्य पर विताने पड़ते हों वह रुचि के संबंध में वीतराग हो ही जाता है, पर अलोपी को निराश न करने के लिए मैंने वह सब ले लिया जिसे वह मेरे लिए ही लाया था। पैसे देते समय अलोपी ने कहा वह महीने पर लेगा। जब मैंने अपने भूल जाने की संभावना और हिसाव लिखने की विरक्ति की व्याख्या आरंभ की तव उसने वहुत विश्वास के साथ समझाया कि वह, दस तक पहाड़े और पहली किताव के विद्वान् ताऊ की सहायता से मेरा हिसाव ठीक रखेगा। छात्रावास का वहाँ की मेट्रन रखेंगी ही। वहाँ इस युगलमूर्ति को लेकर जो विनोदात्मक कोलाहल मचा उसके संवंध में 'गिरा अनयन, नयन विनु वानी' कहना ठीक होगा; पर दो-चार दिन में ही

अलोपी सबकी ममता का पात्र बन गया। उसे जो स्वच्छंदता प्राप्त थी वह दूसरे नौकरों को मिल ही नहीं सकती थी। मेस के लिए आँगन के एक कोने में वह पैर फैलाकर बैठता और तौलकर लाई हुई तरकारी फिर वहाँ के बड़े तराजू पर तौलने लगता। उसका स्पर्श-ज्ञान इतना बढ़ गया था कि लौकी, कद्दू, कटहल आदि को हाथ में लेते ही वह उनका तौल बता देता था। तुलाते तुलाते वह शाक-तरकारियों के प्रकार और खेतों के संबंध में, महाराजिन, वारी आदि को न जाने कितना ज्ञातव्य बताता चलता था। प्रायः छोटी बालिकाएँ उसे घेरकर चिड़ियों की तरह चहकती ही रहती थीं। उनके लिए वह अमरूद, बेर आदि भी लाने लगा, जिनके दाम के संबंध में कुछ निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। एक दिन जब कालेज के फलवाले ने शिकायत की कि अंधा फल लाकर बच्चों को बाँटता है, जिससे उसके व्यापार को हानि पहुँचती है, तब मैंने अलोपी से पूछा। उसने दाँत से जीभ की नोक दबाकर सिर हिलाते हुए जो उत्तर दिया उसका भावार्थ था कि दाम उसे मिल जाता है। फिर वह स्कूल के समय तो आता नहीं, अतः फलवाले की उससे क्या हानि हो सकती है।

बालिकाएँ न अलोपी को झूठा ठहरा सकती थीं, न मेरे सामने झूठ बोल सकती थीं, अतः वे मौन रहीं। मेरे उचित, अनुचित संबंधी व्याख्यान के उत्तर में अलोपी ने मैली पिछौरी के छोर से धुँधली आँखें पोंछते-पोंछते बताया कि उसकी एक आठ-नौ वर्ष की चचेरी बहिन मर चुकी थी। इन बालिकाओं के स्वर में उसे बहिन की भ्रांति होने लगती है, इसी से अपनी दरिद्रता के अनुरूप दो-चार अमरूद, बेर, जामुन आदि ले आता है। उसके देहात में तो ऐसी चीजों का कोई दाम नहीं

लेता, फिर वह कैसे जानता कि शहर में ऐसे देना बुरा माना जाता है। दाम देकर ख़रीदता तो लेना किसी तरह उचित भी हो सकता था, पर वे फल उसे तरकारियों के साथ घलुए में मिल जाते हैं। इनसे पैसे बनाने की बात सोचकर उसक मन न जाने कैसा-कैसा होने लगता है! उन्मुख अलोपी के मुख का भाव देखकर मैं अपने डपोरशंखी न्याय का महत्त्व समझ गई और तब मेरा मन अपने ऊपर ही खीझ उठा। कहना व्यर्थ है कि अलोपी को अपने सिद्धांत में कोई परिवर्तन नहीं करना पड़ा।

अलोपी के नेत्र नहीं थे, इसी से संभवतः वह न प्रकृति के रौद्र रूप से भयभीत होता था और न उसके सौंदर्य से बहकता था। मूसलाधार वृष्टि जब बर्फ़ के तूफान की भ्रांति उत्पन्न करती, बिजली जब लपटों के फव्वारे जैसी लगती और बादलों के गर्जन में जब पर्वतों के बोलने का आभास मिलता तब रग्घू तो चलते-चलते बाँह से आँखें छिपा लेता। पर भीगे चिथड़े के गुड्डे के समान अलोपी, नाक की नोक से चूते हुए पानी की चिंता न कर भीगी उँगलियों से फिसलती लाठी थामे और हरे खेत के खंड जैसी छावड़ी सँभाले इस तरह पाँव रखता मानो उन्हें आज ही पृथ्वी का पूरा परिचय प्राप्त करना है। एक बार भी कीचड़ में पैर पड़ जाने पर रग्घू की खैर न थी क्योंकि अलोपी आँखवाले के पथ-प्रदर्शन में ऐसी भूल अक्षम्य समझता था। जब शीत बर्फ़ीले तीरों का व्यूह-सा रच देती और पक्षाघात की साँस जैसी हवा बहती तब रग्घू पतले कुरते में मृगी के रोगी के समान हिलता और दाँत बजाता चलता, पर अलोपी सारी शक्ति से ठिठुरे ओठों के कपाट बंद किए और सर्दी से नीले नाखून और ऐंठी उँगलियों वाले पैरों को तोल-तोलकर रखता हुआ आता। ग्रीष्म में जब धूल ऐसी जान पड़ती मानो कोई पृथ्वी

को पीस-पीसकर उड़ाए दे रहा है और लू जलते हुए व्यक्ति की तरह चीत्कार करती हुई इस कोने से उस कोने में दौड़ती फिरती तब हाथ से आँखों पर ओट किए हुए रघू के जल्दी-जल्दी उठते हुए पैर मुझे भाड़ में नाचते दानों का स्मरण दिलाते थे। पर अलोपी पलकें मूँदकर आँखों के अंधकार को भीतर ही बंदी बनाता हुआ अपने हर पग को इतनी धीरता से जलती धरती पर रखता था मानो उसके हृदय का ताप नापता हो। वसंत हो या होली, दसहरा हो या दीवाली अलोपी के नियम में कोई व्यतिक्रम कभी नहीं देखा गया।

एक बार जब अपनी लंबी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिंदू-मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता में सक्रिय भाग ले रहे थे तब अलोपी पहले से दुगुनी बड़ी डलिया में न जाने क्या-क्या भरे और एक बड़ी गठरी रघू की पीठ पर भी लादे सुन-सान रास्ते से आ पहुँचा। उसके दुस्साहस ने मुझे विस्मित न करके क्रोधित कर दिया। 'तुम हृदय के भी अंधे हो, ऐसी अँधेरी गलियों में प्राण देकर कुछ स्वर्ग नहीं पहुँच जाओगे' आदि-आदि स्वागत-वचनों के उत्तर में अलोपी बैंगन-लौकी टटोलने लगा। मेरे आँगन में तरकारियों का टीला निर्माण कर वह वैसे ही मूक-भाव से छात्रावास की ओर चल दिया। वहाँ से लौटकर जब वह सूखी आँखें पोंछता और ठिठकता-सा सामने आ खड़ा हुआ तब मेरा क्रोध बरसकर मिट चुका था और मन में ममता की सजलता व्याप्त थी!

मेरे कंठ में आश्वासन का स्वर पहचानकर उसने रुक-रुककर बताया कि वह दो दिन के लिए तरकारियाँ ले आया है। मेट्रन से उसे ज्ञात हो गया था कि उनके भंडार-घर के अचार समाप्त हो चुके हैं और बड़ियों में फफूँदी लग गई है। केवल

दाल से तो अलोपी जैसे व्यक्ति ही रोटी खा सकते हैं अतः वह देहात से यह सब खरीदकर बचता बचता यहाँ आ पहुँचा। उस बिना आँखोंवाले आदमी को कौन सताएगा; पर जब मेरी आज्ञा नहीं है तब वह घर से बाहर पैर नहीं रख सकता। अब दो दिन के लिए चिंता नहीं है; फिर तब तक वह झगड़ा समाप्त हो ही जायगा। अलोपी को ऐसे समय भी रोक रखना संभव नहीं हो सका, क्योंकि बूढ़ी माँ की रक्षा का भार उस पर था।

मैं बरामदे में हूँ या नहीं यह अलोपी देख न सकता था, पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि उसने आते-जाते उस दिशा में नमस्कार न कर लिया हो।

अनेक बार मैं ने खाली डलिया के साथ नीम के नीचे बैठे अलोपी को भक्तिन से बहुत मनोयोगपूर्वक बातें करते देखा था। वार्तालाप का विषय भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहता था। मुझे करेला अच्छा लगता है या कटहल, कचनार की कली पसंद है या सहजन की फली, मेथी का साग रुचिकर होता है या पालक का, मीठा नीबू लाभदायक है या संतरा आदि प्रश्नों पर गंभीरता से वादविवाद चलता।

एक बार की घटना अपनी क्षुद्रता में भी मेरे लिए बहुत गुरु है। मैं ज्वर से पीड़ित थी। कई दिनों तक बरामदे को नमस्कार कर अलोपी ने रग्घू से कहा—जान पड़ता है इस बार गुरुजी बहुत गुस्सा हो गई हैं। पहले की तरह कुछ पूछती ही नहीं। पर जब उसे ज्ञात हुआ कि मैं बीमारी के कारण बाहर आ ही नहीं सकती तब वह बहुत अस्थिर हो उठा।

दूसरे दिन संदेश मिला कि अलोपी मुझे देखने की आज्ञा चाहता है। उतने कष्ट के समय भी मुझे हँसी आए बिना न रह सकी। अंधा अलोपी असंख्य बार आज्ञा पाकर भी मुझे देखने

मैं समर्थ कैसे हो सकता है! पर अलोपी भीतर आया और नमस्कार कर टटोलता टटोलता देहली के पास बैठ गया। फिर अपनी धुँधली, शून्य आँखों की आर्द्रता बाँह से पोंछकर पिछौरी के एक छोर में लगी गाँठ खोलते हुए उसने अपराधी की मुद्रा से बताया कि वह स्वयं जाकर अलोपी देवी की विभूति लाया है। एक चुटकी जीभ पर रख ली जाय और एक माथे पर लगा ली जाय तो सब रोग-दोष दूर हो जायगा। कहने की इच्छा हुई—जब देवी तुम्हारा ही पूरा न कर सकीं तब मेरा क्या करेंगी। पर उनके वरदान की गंभीरता ने मुख से कुछ न निकलने दिया। अलोपी देवी की दिव्यता प्रमाणित करने के लिए अलोपीदीन का कर्तव्य में वज्र और ममता में मोम के समान हृदय ही पर्याप्त होना चाहिए। उसके निकट, जिसका परिचय स्वर-समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता उस व्यक्ति के प्रति इतनी सहानुभूति भूलने की वस्तु नहीं।

अलोपी को हमारे यहाँ आए तीसरा वर्ष चल रहा था। उसका कुछ भरा हुआ-सा कंकाल कुरते से सज गया, सिर पर जब तब साफा सुशोभित होने लगा और ऊँची धोती कुछ नीचे सरक आई। साधारणतः महीने में ७० रु० से कुछ अधिक की ही शाक-तरकारियाँ आती थीं। दाम चुका कर और रग्घू को कुछ देकर भी अलोपी के पास इतना बच रहता था जिससे वह अपनी माँ के साथ सुख से रह सके। और एक दिन तो रग्घू ने हँसते-हँसते बताया कि दादा का रुपया माई गाड़कर रखने लगी है।

अलोपी के अँधेरे जीवन का उपसंहार भी कम अंधकारमय न हो इसका समुचित प्रवंध विधाता कर चुका था। एक दिन मेरे निकट बैठकर अपने आपसे संसार-चर्चा करती हुई भक्तिन ने सुनाया—अलोपी अपना घर बसा रहा है। मैं इतनी विस्मित

हुई कि भक्तिन की कथाओं के प्रति सदा की उपेक्षा भूलकर 'क्या' कह उठी और तब भक्तिन ने उसी प्रसन्न-मुद्रा से मेरी ओर देखा जिससे भीष्म ने रथ का पहिया ले दौड़नेवाले कृष्ण को देखा होगा। पता चला उसके कथन का प्रत्येक अक्षर बिना मिलावट का सत्य है।

एक काछिन, जो दो पतियों को मुक्ति दे आई है, अंधे के लिए स्वर्ग की रचना करना चाहती है; पर अलोपी की माँ अपने वरदान में मिले पुत्र को अब फिर दान में देना स्वीकार नहीं करती।

गर्मियों की छुट्टियों के बाद लौटकर सुना कि अलोपी की माँ अलग रहने लगी और नई पत्नी ने आकर घर सँभाल लिया। फिर एक बार उसे देखने का अवसर भी मिला। मझोले कद की सुगठित शरीरवाली प्रौढ़ा थी। देखने में साधारण-सी लगी पर उसके कंठ में ऐसा लोच और स्वर में ऐसी आत्मीयता भरा निमंत्रण था जो किसी को भी आकर्षित किए बिना नहीं रहता और कुछ विशेष चमकदार आँखों में चालाक के साथ-साथ ऐसी कठोरता झलक जाती थी जो उस पर विश्वास करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य कर देती थी। अलोपी उसे कंठ-स्वर से ही जानता था इसी से कदाचित् वह विश्वास कर सका।

रग्घू घर का भेदिया था; इसी से सब जान गए कि उसकी नई भौजी को रुपये की चर्चा के अतिरिक्त और कोई चर्चा नहीं सुहाती। कभी वह जानना चाहती है कि अलोपी ने गाढ़े दिन के लिए कुछ बचा रखा है या नहीं, कभी पूछती है कि उसकी पछेली और झुमके किस कोने में गाड़ कर रख दिये जायँ।

अलोपी इस ढहते हुए स्वर्ग में छह महीने रह सका। फिर सुना कि उसकी चतुर पत्नी सब कुछ लेकर उसे मायापाश से सदा के लिए मुक्ति दे गई है।

वह वेचारा तो कई दिन तक विश्वास ही न कर सका। खुद गड्ढे को टटोल-टटोलकर देखता और फिर द्वार पर बैठकर उसकी प्रतीक्षा करने लगता।

जब परोपकारी पड़ोसियों ने उसके विश्वास की शिला को युक्तियों की एक-से-एक मर्मभेदी सुरंगों से उड़ा दिया तब वह बीमार पड़ गया। पर निरंतर कर्मयोग में दीक्षित पुलिस को यह शुभ समाचार देने की चर्चा चलते ही वह प्रशांत निराशा भरी दृढ़ता से कहने लगता—अपनी स्त्री को हुलिया लिखवाकर पकड़ मँगाना नीच का काम है।

अलोपी कुछ अच्छा होने पर आने लगा, पर उसमें पहले जैसा जीवन नहीं रह गया था। पैर घसीट-घसीटकर चलता, हाथ से लाठी छूट-छूट पड़ती। एक बार मेरे वरामदे की दिशा में नमस्कार करते समय छावड़ी नीचे आ रही। अलोपी के सब साहस, संपूर्ण उत्साह और समस्त आत्मविश्वास को संसार का एक विश्वासघात निगल गया है, यह सत्य होने पर भी कल्पना जैसा जान पड़ता है।

अंधे का दुःख गूँगा होकर आया, अतः सांत्वना देनेवाले उसके हृदय तक पहुँचने का मार्ग ही न पा सकते थे। मेरे वोलते ही वह लज्जा से इस तरह सिकुड़ जाता मानो उसके चारो ओर ओले बरस रहे हों, इसी से विशेष कुछ कह-सुनकर उसका संकोचजनित कष्ट वढ़ाना मैंने उचित न समझा। पर अपने अपराध से अनजान और अकारण दंड की कठोरता से अवाक् वालक जैसे अलोपी के चारो ओर जो अँधेरी छाया घिर रही थी उसने मुझे चिंतित कर दिया था।

उसकी माँ वड़ी मानता से प्राप्त अंधे पुत्र का सब अपराध

भूल गई थी पर हठी पुत्र ने अपने आपको क्षमा नहीं किया, अतः उन दोनों का वह करुण-मधुर अतीत फिर न लौट सका।

मैं दसहरे का अवकाश घर बिता रही थी। अलोपी एक दिन तरकारियाँ देकर संध्या समय तक मेस ही में बैठा रहा। कभी बड़ी ममता से तराजू को छूकर देखता, कभी बड़े स्नेह से पूसी की धनुपाकार पीठ को सहलाता और कभी विनोद से छोटी बालिकाओं को चिढ़ाने लगता। फिर जाते समय मेरी कुत्ती फ्लोरा को अपनी पिछौरी में बँधे मुरमुरे देकर, हिरनी सोना को मूली की पत्तियाँ खिलाकर और मेरे बरामदे को नमस्कार कर जो गया तो कभी नहीं लौटा।

तीसरे दिन रोने से सूजी आँखों वाले रग्घू ने समाचार दिया कि उसका अंधा दादा बिना उसे साथ लिए ही न जाने किस अज्ञातलोक की महायात्रा पर चल पड़ा।

ऐसे ही अचानक तो वह यहाँ भी आ पहुँचा था, इसी से विश्वास होता है कि वह बिना भटके ही अपने गंतव्य तक पहुँच जायगा।

बालक रग्घू के लिए दूसरे काम का प्रबंध कर मैं ने अलोपी के शेष स्मारक पर विस्मृति की यवनिका डाल दी है। पर आज भी देहली की ओर देखते ही मेरी दृष्टि मानो एक छायामूर्ति में पुंजीभूत होने लगती है। फिर धीरे-धीरे उस छाया का मुख स्पष्ट हो चलता है। उसमें मुझे कच्चे काँच की गोलियों जैसी निष्प्रभ आँखें भी दिखाई पड़ती हैं और पिचके गालों पर सूखे आँसुओं की रेखा का आभास भी मिलने लगता है तब मैं आँखें मल-मलकर सोचती हूँ—नियति के व्यंग से जीवन और संसार के छल से मृत्यु पानेवाला अलोपी क्या मेरी ममता के लिए प्रेत होकर मँडराता रहेगा?

बारहवीं सुरभि--

(श्री राय कृष्णदास)

इस नानारूपात्मक दृश्य जगत् में अंतःप्रविष्ट आत्मसत्ता का आभास देने के लिए ये खंडवृत्त का सहारा लेते हैं। इन छोटे छोटे खंडवृत्तों में व्यंजकता का ऐसा समावेश होता है कि जीवन, जगत् या आत्मतत्त्व की बड़ी ही मधुर और मार्मिक झाँकी मिल जाती है। जड़ और चेतन के जीवन प्रवाह में एक ही अखंड सत्ता अपने निर्मल रूप में प्रवाहित होती रहती है, केवल बाह्य आवरण हटाकर अभ्यंतर में झाँकने की आवश्यकता है। ये अनेकदृश्यमय जगत् से खंडचित्र भी भिन्न भिन्न लिया करते हैं, एक ही प्रकार के तत्त्वदर्शन में संलग्न नहीं दिखाई देते। इनकी यह बहुत बड़ी विशेषता है, जो इस प्रकार के गद्यकाव्यकारों में कम दिखाई देती है। शैली बहुत ही सरल और शब्द बहुत ही चुने हुए एवम् शक्तिपूर्ण होते हैं। सीधी सादी पदावली में और बोलचाल के ही शब्दों में उत्कृष्ट व्यंजना करने में अत्यंत दक्ष हैं।

छाया-पथ

छाया-पथ--

अपनी हथेली पर इस दीपक को लेकर मैँ वार-वार वाहर आती हूँ, किंतु इसकी ज्योति को पवन चुरा लेता है और मैँ अंधकार मैँ रह जाती हूँ। आह, मुझको वड़ी दूर जाना है और मार्ग नया है, वे-पहचाना है। यह निगोड़ा पवन केवल प्रभा चुराकर नहीँ रह जाता, ऊपर से थपेड़े लगा-लगाकर मुझे खिजाता भी है। और, यह कल-कल कर वहती हुई सरिता भी मेरी हँसी तो नहीँ उड़ा रही है ?

लो—यह तो वड़ा अंधेर हुआ, अव तो दीप वालने का साधन भी गया ! अरे, अपना ही घर रात्तस वनकर खाने दौड़ रहा है।

मरी सी मैँ वाहर आती हूँ। पर यह क्या ! यहाँ तो कुछ और ही पाती हूँ—दीपक के अचानक वुझने से जो चका-चौँध का प्रतिघात होता था उससे यही जान पड़ता था कि यह काल की रात-जैसी अँधेरी है, किंतु अव उस चकाचौँध से नाता टूट गया, सो छाया-पथ का मृदुल प्रकाश ही मार्ग दिखाने को पर्याप्त है।

जीवन का उद्देश्य—

मैँने अपने मित्र का निरर्थक जीवन देखकर जलके कहा—"तुम अपने जीवन का उद्देश्य तो वतलाओ।"

उन्होँने प्रसन्नता से, मुस्कराकर कहा—"हाँ, हाँ।"

वात आई-गई हो गई।

एक दिन उन्होंने कहा—"चलो, जंगल की सैर कर आवें।" हम लोग जंगल में गए। वहाँ एक पतली-सी पयस्विनी वह रही थी। उसके दोनों ओर के सीले तटों पर गहरे हरे रंग की ऊँची घास उगी थी। बीच में उसका उथला पाट पत्थर के अड़बड़ टुकड़ों से भरा हुआ था। उनमें से अनेक तो उस तीर्थ की बित्ते-भर की गहराई में डूबे हुए थे और उन पर विवर्ण काई की मोटी तह जमी हुई थी। उनके चारों ओर कावे काटती हुई छोटी-छोटी मछलियाँ उस पारदर्शी जल में साफ दीख पड़ती थीं।

एक ओर घाटी में हरित वन के पीछे ऊँचा, चिपटा और बीहड़ पहाड़ी कगारा खड़ा हुआ था। दूसरी ओर छोटे-छोटे क्षुपों और वृक्षों के बाद दो-चार बड़े-बड़े वृक्ष दिखाई देते थे, जो प्रकाश की हलकी—आसमानी यवनिका से निकल पड़ते थे।

यत्र तत्र पत्थर के गोल ढोके पानी के बाहर कछुए की पीठ-से निकले हुए थे। उन पर पानी के समय-समय चढ़ने-उतरने के चिह्न अंकित थे।

रह-रहकर पहाड़ी जंगली हवा के झोंके हम लोगों के मुँह पर पंखा झल देते थे। तबीयत ताजी हो गई, पर मुझे वह पयस्विनी कुछ न जँची। क्योंकि, मैं जो सहज ही उसमें पैर हिलाने लगा तो काई ने उठकर पानी डाबर कर दिया। मैंने कहा—"क्या गंदे नाले में ला खड़ा किया है। देखो न, मैंने जरा सा पानी को हड़ोल दिया, वह ज्यों का त्यों बना है।"

मेरे मित्र ने अन्यमनस्क होकर कहा—"हाँ"

इसी समय हवा का एक झोंका आया। जिस जामुन के नीचे हम खड़े थे उसके सूखे पत्ते खड़खड़ाकर अंतरिक्ष में नाचते हुए, शापच्युत अप्सरा की तरह उस जल में गिर पड़े—धीरे-धीरे आगे बढ़े।

मेरे मित्र ने कहा—"देखते हो ?"

मैंने कहा—"देखना क्या है, पत्तियाँ बह रही हैं।"

उन्होंने कहा—"हाँ; दिखाना यही था कि यह जंगली नदी पंकिल है काई से भरी है, तनिक लहरा जाने से गंदी हो जाती है, तो भी इसका पारदर्शी जल निश्चयपूर्वक अपने उद्देश्य की ओर बढ़ता जा रहा है, चाहे उसकी गति कितनी ही धीमी क्यों न हो।"

"तो इससे क्या हुआ ?"

"बस ऐसी ही मेरे जीवन की गति भी जानो।"

मैं अवाक् रह गया।

व्याज-स्तुति—

वे मेरे मेहमान होकर आनेवाले थे।

मैंने अहोभाग्य समझा। आनंद के मारे मैं विह्वल हो उठी।

उनके स्वागत और आतिथ्य के लिए मेरे किए जो कुछ हो सकता था मैंने उन सबका पूर्ण समारंभ आरंभ किया। इसके सिवा दिन-रात मुझे कोई और काम न था।

नियत दिन वे पहुँचे। मैं मंगल-द्वार पर आरती लिए खड़ी थी। मेरे सारे तन में भावों की चपला कौंध रही थी। रफीरी-वाले स्वागत के लिए भूप-कल्याण की तान ले उठे।

आते ही वे बोले—"वाह, क्या अच्छी आरती साजी है! थाल में कैसी अच्छी साँझी बनाई है! दीपशिखाएँ क्या झल-मला रही हैं! और यह क्या अलंकृत किया गया है? अहा, यहाँ से तो आँख ही नहीं हटतीं!······ वाह, वाह, वाह; शहनाईदार ने किस खूबी से निषाद लगा दिया है!"

यों ही वे एक-एक चीज का बखान करने लगे।

मेरी ओर ध्यान भी न दिया।

पर उनकी इस प्रशंसा और परितोष से ही मैं पूर्णतः प्रसन्न और प्रफुल्ल हो उठी ?

कलरव--

प्रभात के प्रथम पवन के संग एक कोकिला और एक श्यामा चंपे के पेड़ पर आ बैठीं। दोनों बातें करने लगीं।

कोकिला—मैंने एक कूक लगाई कि वसंत आ पहुँचा।

श्यामा—क्या कहना! तू डाल-डाल घूमनेवाली पराये की पाली-पोसी! जहाँ तूने रसाल का पल्लव भख लिया कि पागल होकर चिल्लाने लगी।

कोकिला चुप छिछोरी! मैं दूसरों की बोली की नकल तो नहीं उतारती! क्या तेरी कोई अपनी बोली भी है?

× × ×

कुछ देर में व्यंगोक्तियों से थककर दोनों चुप पड़ गईं। पर उन्हें सन्नाटा अखरने लगा। तब वे मेल की बातें करने लगीं। एक दूसरे की हामी भरती। 'वाह वाह' की झड़ी लगाती। झूमने लगती। दोनों के मुख पर खूब प्रसन्नता झलक रही थी।

दिन-भर यह सिलसिला न टूटा।

संध्या आ चली। ज्यों-ज्यों संसार से विदा होने का समय आता गया, त्यों-त्यों सूर्य का अनुराग भी बढ़ता गया।

अंत को जब संध्या हुई, जब कमल नेत्र बंद करके सोने का उपक्रम करने लगे, तब वे अपने-अपने बसेरों को उड़ चलीं।

पर दोनों अपने मन में यह पछताती गईं कि खेद उसने मेरी एक बात भी न समझी।

देवाधिदेव—

प्रश्न—उनका मित्र धनद है, फिर भी वे अकिंचन क्यों हैं?

उत्तर—अपनी रुचि तो ठहरी। उनकी वही निधि है। क्या कुवेर के पास वह है? कुवेर की निधि तो रावण छीन सकता है, पर वही उन्हें अपना सिर चढ़ा देता है।

प्र०—कुवेर तो राजराजेश्वर है।

उ०—पर देवाधिदेव तो नहीं।

प्र०—कुबेर के हाथ मैं अखिल ब्रह्मांड की निधि है।

उ०—हाँ, आत्मनिधि के सिवा।

प्र०—आत्मनिधि की क्या गणना?

उ०—गणना यही कि कुवेर ने अपने आपको ब्रह्मांड-भर की निधियों के हाथ मैं बँच रक्खा है। उसके आपे का रूप है—उन्हीं की चिंता।

प्र०—तो क्या कुवेर सुखी नहीं?

उ०—उसे वैसा सुख है जैसा समुद्र को—वह रत्नाकर है पर उसके अंतस् मैं सदा आग जला करती है और वह एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता। वह एक सीमा मैं निरुद्ध हुआ, वसुंधरा के चरणों मैं पड़ा हुआ, उन्हें धोया करता है। उसके रत्न दूसरों ही के काम आते हैं।

प्र०—और उनकी तो कहो।

उ०—सुनो—आकाश उदार, निःसीम और निर्विकार है। सर्वव्याप्त है। कभी अनेकों रंगों का प्रदर्शन होता है, कभी लाखों हीरे-मोती छिटकाए जाते हैं। कभी दौड़ते हुए मेघाडंबर के रूप मैं वह समूचा का समूचा धावन करता है। कभी सूर्य का प्रकाश है; कभी चंद्र का शेखर। कभी दिगंबर नाचता है, कभी गजाकृति धारण करता है। कभी दशमी का गजदल निकलता है, कभी शरत्पूर्णिमा का रास रचा जाता है, कभी होली

का गुलाल उड़ाता है। यों वह अनंत विभूति दिखलाता हैं, पर रहता है वह ज्यों का त्यों, निर्लिप्त। समझा कुछ ?

छुटकारा नहीं—

मैं एक अत्यंत सुंदर चित्र देख रहा था। अचानक किसी के गाने का शब्द सुन पड़ा। तबीयत फड़क उठी। मैंने चित्र रख दिया। खिरकी से देखा कि एक अंधा गा रहा है। जब वह समाप्त कर चुका; मैंने उस पर रुष्ट होकर कहा—"तूने क्यों ऐसे समय मेरा मन आकृष्ट किया ?—चित्र देखते-देखते मेरे हृदय में एक अपूर्व भावना उठ रही थी, वह अधूरी रह गई।"

वह हँस पड़ा। पूछा—कैसा चित्र है ?"

मैंने वर्णन किया।

तब वह कहने लगा—"भैया, एक दिन मैं चित्रकार था; मैंने ही उसे बनाया था। तब लोग उलाहना देते थे कि तुम ऐसे चित्र बनाते हो कि उसे देखने में लोग स्वयं चित्र-लिखे से रह जाते हैं। अब अंधा होकर—अपने लिये सारी दुनिया गँवा-कर—जो गाता हूँ तो भी उलाहने से मेरी जान नहीं छूटती; हाय !"

———

तेरहवीं सुरभि—

(श्री पं० केशवप्रसाद मिश्र)

इस छोटे से आत्मव्यंजक निबंध मेँ भगवान् श्रीकृष्ण का पूरा चरित्र केवल नामोँ की व्याख्या कर देने से ही व्यक्त हो गया है। व्याख्या भी ऐसी नहीँ कि सूत्रोँ की उद्धरणी से रूपसिद्धि करनी पड़े, लीला का स्तवन करते करते नामोँ की निरुक्ति भी हो गई। भक्त की दृष्टि से इसमेँ नाम, रूप, लीला और धाम का चिंतन भी है और भावक की दृष्टि से भाषाविज्ञान का मनन भी। अपने ढंग का यह अद्वितीय निबंध है। एक एक नाम की व्याख्या मेँ जहाँ भक्तिमार्ग के ग्रंथ अध्यायोँ का सहारा लेते हैँ वहाँ भाषाविज्ञान के ग्रंथ सिद्धांतोँ की परंपरा का। कृष्ण, गोविंद, गोपेंद्र, पुरुषोत्तम आदि ऐसे ही शब्द हैँ। इसमेँ दोनोँ का तत्त्व है; अपना पक्ष भी है। कहना चाहिए कि छोटी सी सीपी मेँ मुक्ताफल भरे हुए हैँ। उपक्रम और उपसंहार का भी समुचित योग है; आदि मेँ है '?' (क्या) और अंत मेँ है 'का कहिए' (?)।

काले पाख की काली रात को कारा की कालकोठरी मेँ जो जन्म ले उसे कृष्ण न कहेँ तो क्या शुक्ल कहेँ! भले ही वह अपने कर्मों के मान से आगे चलकर चंद्र बन जाय! 'गौर कृष्ण' होकर पुजे!

बाहरी आपकी नटखटी! आपने तो दुनिया सिर पर उठा ली है। वित्ता-भर के वित्तन सवा हाथ को डाड़ी! नन्हेँ से तो आप हैँ, पर सबको परेशान कर रखा है। किसी की मटकी फोड़ी, तो किसी का कूँड़ा गिराया! किसी की नैनी ले भागे तो किसी की छाछ फैला दी! कभी आप चुपके से बछड़ा छोड़ देते हैँ, तो कभी धौरी की टाँगोँ मेँ सिर डालकर बेखटके ऐन चूसने लगते हैँ। न डरेँ किसी डायन से, न सहमेँ किसी दानवा से! अच्छा है! आज खूब सूझेगी! क्या करे मा बेचारी! तंग आकर उसने कमर मेँ रस्सी बाँधी है! दामोदरजी नमस्कार!

धन्य, गोपाल, धन्य! भारत के प्राण गोधन की आप न रक्षा करेँ तो कौन करे? वन मेँ गायेँ स्वच्छंदता से चर रही हैँ। कोई रोक-टोक नहीँ! चाहे झाड़-झंखाड़ के झुरमुट मेँ छुप जायँ, चाहे चौड़े-धाड़े हरी-हरी दूब ही टूँगेँ! उनका मन! उनकी मनमानी! किसी की ताव नहीँ कि कोई उनका बाल बाँका करे। साँझ हुई। 'गोसंघ' लेकर घर लौटना है। ग्वाले गायेँ समेट रहे हैँ? सब आ गईँ? और तो आईँ, पर लाली का कहीँ पता नहीँ! अँधेरा छा रहा है। जंगल मेँ श्वापदोँ का राज्य होगा! किसका साहस है कि लाली को ढूँढ़ने जाय? गोविंद जायँगे। गोविंद, धन्य गोविंद!

वाह, आपकी आँखों मेँ कैसा नूर है ! कैसी दिव्य ज्योति है ! कैसा जादू है ! एक बार की चितवन चित्त चुरा ले जाती है। माधुर्य और तेज का, सतर्कता और विस्रंभ का, उल्लास और गांभीर्य का, विलोलता और स्थैर्य का, कातरता और पौरुष्य का ऐसा योग, ऐसा सहविहार कहाँ देखने मेँ आता है ? पुंडरीकाक्ष के माने भी तो यही हैँ !

चाँदनी

शरत्काल की धवल राका खिली है; समस्त सृष्टि मेँ उन्मदिष्णुता सी जाग उठी है। हिमांशु के निरावरण करों का स्पर्श पाकर प्रकृति पुलकित हो रही है। रूपवती गोपिकाओं का उद्दाम यौवन केलि-लालसा से निर्मर्याद हो रहा है। उस वंशीधर त्रिलोक-सुंदर के संग ही उसे वे चरितार्थ करना चाहती हैँ। उधर मदन भी मोहन के मोहन का ऐसा सुअवसर हाथ से निकल जाने देना नहीँ चाहता। शीलनिधान गोपियों का यह प्रणयानुरोध स्वीकार करते हैँ। रास रचा जाता है। नटवर खुद खेलने के लिए तैयार खड़े हैँ। गलबहियाँ पड़ जाती हैँ। पैर थिरकने लगते हैँ। लालसा तृप्त होती है। रात बीत जाती है। हे अच्युत ! आप गोपी-मोहन तो हैँ ही, मदनमोहन भी हैँ।

जन, जनम-मरण का खिलौना जन कर क्या सकता है ! साधारण से साधारण संकट ही मेँ उसके हाथ-पैर फूल जाते हैँ। इस मांस-पुद्गल मेँ कैसा सत्त्व और क्या सार ! इसकी सब कामनाएँ, सारे मनोरथ, समस्त उत्साह और संपूर्ण साहस; जहाँ के तहाँ, रह जायँ यदि आप इसके अर्दन * न हों, समय समय पर इसे हाँका न करेँ। वस्तुतः जन की बागडोर जनार्दन के ही हाथ है !

* मिलाओ अर्ज (urge)।

गोपेश्वर ! आपने सदा गायँ ही दुहीं। धौरी, काली, भूरी, लाली सभी का स्वच्छ कुमुदवर्ण क्षीर एकरूप ! एकरस ! एक-सत्त्व ! जब चाहा जिसको पिलाया। आज या तो गायँ ठाँठ हो गई हैं या दूध का रंग बदल गया है। अंधी जनता आश्चर्य करती, समझती है कि मेरी काली गाय सफेद दूध कहाँ से देगी ! हे गोपाल-नंदन ! अब आप कब सब गायँ दुहकर समझदार लोगों को एक-सा अमृत-दूध पिलायँगे ?

दुनिया दुरंगी है। समस्त विश्व द्वंद्व की प्रचंड थपेड़ से व्यथित हो रहा है। कोई ऐसा मार्ग नहीं जिस पर सबके सब सुख-शांति से चलकर मनुष्यता देवी को प्रमुदित होने का पूरा पूरा अवकाश दे सकें। किसी से कुछ जोग-जुगुत पूछना चाहिए ? कौन है जो इन प्रबल विरोधियों, उच्छृंखल वेगों का योग कराकर एक ऐसा समंजस ऊर्ज उत्पन्न करे जिससे विश्वजनीन कल्याण संपन्न हो ? यों तो नेता सभी हैं, पर कर्मकुशल योगेश्वर कृष्ण के सिवा इस योग की साधना कोई नहीं कर सकता।

धर्मराज की राजसूय-सभा बैठी है। बड़े-बड़े पुरुष, सुपुरुष, अतिपुरुष और पुरुषाभास भी विराजमान हैं। प्रथमपूज्यता का प्रश्न उपस्थित है। निर्णय विवादग्रस्त हो रहा है। आजन्म ब्रह्मचारी सकलशास्त्रनिष्णात परम आप्त कुरुप्रवीर भीष्मपितामह निर्णय देते हैं—"चक्रपाणि कृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं, इन्हीं की प्रथम पूजा होनी चाहिए।"

'केशव कहि न जाय का कहिए ?'

चौदहवीं सुरभि—

(श्री वियोगी हरि)

भक्त के हृदय की विभिन्न स्थितियों और भगवान् की शक्ति, विभूति और सौंदर्य की ओर उसके आकर्षण की व्यंजना करने के लिए लेखक अनेक प्रतीकात्मक खंड दृश्य उपस्थित किया करते हैं। सभी का उद्देश्य एक ही है, सबमें एक ही भावना का स्रोत छलकता रहता है। उक्तियों का विधान करने में लेखक बहुत ही समर्थ दिखाई देते हैं। इनकी रचनाओं में कवित्व का आवश्यक पुट अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक और बराबर पाया जाता है। तर्कों का भी समुचित विधान हो जाने से इनकी रचनाएँ कई दृष्टियों से पूर्ण दिखाई देती हैं। शैली सरल होती है और पदावली मधुर एवम् परिष्कृत। भक्तिभाव की व्यंजना के लिए गद्यकाव्य की जितनी आवश्यक सामग्री हो सकती है, इनमें पर्याप्त है, सुसंस्कृत रूप में मिलती है।

भावना

क्यों नहीं ?—

यदि मेरा मस्त मन मृग है, तो मैं तुम्हारी स्मृति को कस्तूरी क्यों न कहूँ ?

तुम्हारे ध्यान-चित्र को मैं चंद्र कह सकता हूँ या नहीं ? यदि हाँ, तो मुझे अपने मुग्ध मन को चकोर कहने से क्यों रोकते हो ? जब मेरा चंचल चित्त चातक होने को अधीर हो रहा है, तब तुम्हें स्वाति-घन बनने में आपत्ति ही क्या है ? तुम्हारे रूप को क्या मैं श्याम घन की उपमा दे सकता हूँ ? यदि हाँ, तो मेरे उन्मत्त मन को भी मयूर बनकर नृत्य करने दो, प्यारे ! यदि तुम चोर होने में ही अपना मान समझते हो, तो मेरे तिमिराच्छन्न हृदय को, छिपने के लिए, अपना भवन क्यों नहीं बना लेते ? बाहर खड़े-खड़े मेरे आँसुओं से भींगते क्यों हो ? मेरे हृदय को क्या तुम अब भी अपना विश्रांति-मंदिर नहीं मानते ? यह कैसे हो सकता है कि, तुम अपने को जल कहो और मैं मीन होने का दावा न करूँ ?

क्या यह युक्ति-संगत है कि, तुम तो मुझे मधुकर कहो, और मैं तुम्हें सरोज न मानूँ ? यह भी क्या संभव है कि, मैं तो तुम्हें दीपक के रूप में देखूँ, और तुम मुझे पतंग न मानो ? तुम्हें यदि मैं सागर कह सकता हूँ, तो कोई कारण नहीं, कि मैं अपने को तरंग न कहूँ। तुम बिंब हो, तो कहो, मैं तुम्हारा प्रतिबिंब हुआ या नहीं ? मेरी प्रवृत्ति को अपनी प्रेम-तंत्री की झनकार कहने में क्या तुम्हें कोई संकोच है ?

यह झूठ है कि, तुम चुंबक हो। यदि सच ही चुंबक हो तो मेरे लोहे-जैसे कठोर मन को आकर्षित क्यों नहीं कर लेते? यदि मेरे आँसुओं को मोतियों की समता दी है, तो उनकी माला पहनने में तुम्हें आपत्ति ही क्या है? मेरे हृदय को यदि एक प्रस्तर-खंड मान बैठे हो, तो उस पर अपने प्रेमरस का झरना क्यों नहीं झरने देते? यह कभी न होने दूँगा, कि तुम तो बजाते रहो वीणा, और मैं मृग की भाँति तुम्हारे स्नेह-जाल में फँसने न जा पहुँचूँ। तो फिर इस गली से निकलते ही क्यों हो? प्यारे, यह कैसे संभव हो सकता है कि, इस मार्ग पर तुम्हारे चरण पड़ें, और मैं अपने को वहाँ की धूलि न बना लूँ?

साधना—

अब वे हँसते हुए फूल कहाँ! अपने रूप और यौवन को प्रेम की भट्ठी पर गलाकर न जाने कहाँ चले गए। अब तो यह इत्र है। इसी में उनकी तपस्या सिद्धरस है। इसी के सौरभ में अब उनकी पुण्यस्मृति का प्रमाण है। विलासियो! इसी इत्र को सूँघ-सूँघकर अब उन खिले फूलों की याद किया करो। अब मेंहदी के वे हरे लहलहे पत्ते कहाँ! अपने रूप और यौवन को प्रेम की शिला पर पिसाकर न जाने कहाँ चले गए। अब तो यह लाली है। इसी में उनकी साधना सिद्धरस है। इसी लाली में अब उनकी पुण्यस्मृति का प्रमाण है। विलासियो! इसी लाली को अपने तलुओं और हथेलियों पर देख-देखकर अब उन हरे लहलहे पत्तों की याद किया करो। अब सीप के वे अनवेधे दाने कहाँ! अपने सरस हृदय को प्रेम के शूल से छिदाकर न जाने उन्होंने क्या किया। अब तो उन घायलों की यह माला है। इसी में उनकी भावना का सिद्धरस है, इसी सुषमा में अब उनकी पुण्यस्मृति का प्रमाण है। विलासियो! इसी

माला को अपने कंठ से लगाकर अब उन अनवेधे दानों की याद किया करो।

उपालंभ--

सच कहता हूँ, तुम्हारी स्मृति-बालिका बड़ी हठीली और चुलबुली है। कितना ही हटाओ, मेरे हृदय-मंदिर के भीतर आ ही पैठती है। आए, घड़ी-दो-घड़ी शांति से बैठे—कोई रोकता नहीं। पर नित्य का यह ऊधमचारा किससे देखा जाता है? कहाँ तक सहूँ? शिकायत कर ही आती है।

अपने हृदय-मंदिर पर मैंने एक लालसा-लता चढ़ाई थी। आँसुओं से सींच-सींचकर उसे बढ़ाया था। उसके फूल कहीं फेंक न देता, तुम्हारे ही चरणों पर आज चढ़ा देता। पर मन की मन ही में रही। जब उसके फूलने के दिन आए तब उसे तुम्हारी स्मृति-बालिका ने उखाड़कर फेंक दिया। तुम्हीं बताओ इससे उसे क्या मिला होगा? मैं ही जानता हूँ कि, उस दिन मुझे कितना दुःख हुआ था।

एक दिन तो मैं उसे हटाते-हटाते हैरान हो गया। मेरी आँखों की कटोरियों में थोड़ा-सा मधु भरा रखा था। उस रस को मैं किसी के हाथ कुछ बेच न डालता, तुम्हारे ही चरणों पर किसी दिन उड़ेल देता। पर, वह भी न कर सका। तुम्हारी हठीली स्मृति दुलारी आई और उन मधु-भरी कटोरियों को औंधाकर चंपत हो गई। तुम्हीं बताओ, उसका यह अपराध क्षमा करने योग्य है?

अपनी लाड़ली लली की एक लीला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मन-मानिक मानसी मंजूषा में बंद करके रख छोड़ा था। किसे उसका पता था? पर, तुम्हारी स्मृति ठहरी

घट-घट-वासिनी। उसे मेरे छिपाव का पता चल ही गया। बस, फिर उसे चुराते देर न लगी। उस मानिक को मैं तुम्हारी अँगूठी मैं जड़वाना चाहता था। सो, वह भी साध पूरी न हुई। तुम्हारी प्यारी स्मृति उसे भी ले भागी। पता नहीं, उसने उस मानिक का फिर क्या किया! कहाँ तक उसके ऊधमचारे की शिकायत करूँ!

ठहरो, नाथ! ठहरो। मैं ही भ्रम मैं था। तुम्हारी दुलारी स्मृति निरपराधिनी है। उसने मेरा कुछ नहीं विगाड़ा। बलिहारी, तुम्हारे चरणों पर मैं अपनी लालसा-लता के फूल चढ़े देख रहा हूँ, तुम्हारे पाद-पद्मों पर अपनी कटोरियों का वह मधु भी छिड़का हुआ पाता हूँ। और, तुम्हारी अँगूठी मैं मेरा वह चुराया हुआ मन-मानिक भी जड़ा हुआ है।

उस पार--

माँझी, मेरी नाव उस पार लगा दे। क्या हुआ, जो असमय हो गया! अभी आधी ही रात गई होगी। हाँ, धार का वेग निस्संदेह भयावह है। इसलिए डर रहा है कि कहीं नाव उलट-कर डूब न जाय? उठ, डाँड़ पकड़। नाव उलटेगी नहीं। माँझी, डर मत।

अरे, कैसा बैठा-बैठा ऊँघ रहा है। तेरे लिए, देख कब से ठिठुर रहा हूँ! सुनता ही नहीं! यहाँ तो न रह सकूँगा। यहाँ का यह विलास-भवन अब देखा नहीं जाता। यह तो मानो खाए जाता है। यह विहार-वाटिका भी तो जलकर राख का ढेर हो गई है। सो, अब मुझसे यहाँ क्षणमात्र भी खड़ा नहीं रहा जाता। पूर्वस्मृति की काली छाया पीछे पड़ रही है। अरे, उफ! कितनी वेदना है! कैसी यंत्रणा है! तेरे पैर छूता हूँ, निर्दय! नाव खोल दे।

क्या कहा, कि वह पार अज्ञात है ? हो अज्ञात—उसकी कोई चिंता नहीँ। यह ज्ञात पार ही मुझे क्या सुख दे रहा है! अब तो तू मेरी यह नाव उस अज्ञात अपरिचित पार को ले चल।

वहाँ पहुँचने के लिए कैसी तीव्र उत्कंठा है! कैसी अतृप्त लालसा है! माना कि उस पार का आनंद अखंड और नित्य है, पर उस पर मेरा अधिकार ही क्या। उस पार वाले की बाँसुरी क्या कभी सुनने को मिलेगी? उधर की मधु-पेया क्या कभी इन प्यासी आँखोँ को पिला सकूँगा?

अब तो मेरी सारी साधनाओँ का परिणाम तेरे ही हाथ मेँ है। जब तक तू यह डाँड़ न पकड़ेगा, तब तक उस पार के लिए मैँ छटपटाता ही रहूँगा। चल, एक बार तो कृपा कर उस बाँसुरी की फूँक इन व्याकुल कानोँ मेँ भर दे। वह पेया एक बार तो इन प्यासी आँखोँ को पिला दे। यहाँ की कामना, यहाँ की उत्कंठा मेँ परिणत कर दे। प्यारे, माँझी, अब मेरी नाव तू उस अज्ञात पार की ही ओर खेकर ले चल। भाई, तेरे पैर छूता हूँ कृपा कर मेरी यह झाँझरी नाव शीघ्र खोल दे।

कसौटी--

कैसे मान लूँ कि मेरा मटमैला मन निश्चय ही कांचन है! जब तक मैँ ने, नाथ! इसे तुम्हारी भक्ति-कसौटी पर कस नहीँ लिया है, तब तक इसके वास्तविक सुवर्ण होने मेँ मुझे संशय ही बना रहेगा। तो क्षणमात्र के लिए क्या वह दुर्लभ कसौटी दे दोगे, कृपा-धाम?

इतना तो मैँ विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ, कि इस स्वर्ण मेँ न जाने कितना मैल भरा है। यह सब मेरी कुवासनाओँ की कृपा

है। तुम्हारी उस कसौटी पर कसने के पहले मुझे इस कनक को तनिक तपा लेने दो।

प्रियतम, तुम्हारी आत्यंतिक विरह-व्याकुलता ने अभी तक मेरे हृदय-काष्ठ को संघर्षित नहीं किया। एक भी चिनगारी यदि वासनाओं के गीले ईंधन पर पड़ जाती, तो कभी की वहाँ आग सुलग गई होती। अब कहो, किस आग में इसे तपाऊँ? मेरे पास सुहागा भी तो नहीं है। बिना अनुराग-सुहागा मिलाए इसमें वह लाली कैसे आयगी! सो वह भी प्रभो, तुम्हीं को देना होगा! हाँ, तो फिर और कौन देगा?

मेरी यह धारणा है, कि इसका मैल और खोटपन तुम्हारे विमल विरह और अमल अनुराग ही से दूर हो सकेगा। जब तक मैल जलकर दूर नहीं हो गया तब तक भक्ति-कसौटी की अभियाचना व्यर्थ है। जन-वत्सल! तो क्या किसी दिन मुझे अपना विरह, अनुराग और भक्ति देने की कृपा करोगे?

———

पंद्रहवीं सुरभि—

(श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी)

हिंदी के 'लिंग' (Gender , का विचार बहुत ही विद्वत्तापूर्ण शैली में किया गया है। महाभाष्यकार पतंजलि ने स्पष्ट कह दिया है कि 'लिंगं तु लोकसंश्रयात्' अर्थात् लिंग का निर्णय लोकव्यवहार से ही होता है। कोई शब्द क्यों पुंलिंग है क्यों स्त्रीलिंग, इस 'क्यों' के फेर में न पड़कर भाषा के व्यवहार का ध्यान रखना चाहिए। इसी से 'क्यों' का उत्तर भी मिल जायगा। कुछ अपवादों के होते हुए भी हिंदी में लिंग-भेद किसी निश्चित नियम के अनुसार ही होता है। पूरबी और पछाहीं लेखकों के कारण बहुत से शब्द दो-दो लिंगों में चलते हैं। ऐसा होना ठीक नहीं। हिंदी भाषा भी सीखने और पढ़ने से आती है। किसी विशेष प्रदेश का आग्रह त्याग देना होगा। दूसरी भाषाओं से आनेवाले शब्दों में भी पूरब और पछाहँ के भेद से लिंग-भेद है। बर्फ, मोटर, नोटिस पश्चिम में पुंलिंग बोले जाते हैं पर पूरब में स्त्रीलिंग। लेखकों को मनमानी न करके व्यवहार पर ही विचार रखना चाहिए और खड़ी बोली जहाँ की भाषा है वहाँ जिस लिंग में शब्दप्रयोग हो उसी को ग्रहण करना चाहिए।

हिंदी-लिंग-विचार

संस्कृत-व्याकरण का लिंग-प्रकरण जैसा कठिन और जटिल है वैसा हिंदी-व्याकरण का नहीं। पत्नी-वाचक होकर भी 'कलत्र' शब्द संस्कृत में क्लीवलिंग और 'दार' शब्द पुंलिंग है। समस्त संसार का स्रष्टा होकर भी ब्रह्म नपुंसक है। यह सरासर असंभव और अस्वाभाविक है। आनंद की बात है, हमारी प्यारी हिंदी में ऐसी बेढंगी बातें नहीं। यहाँ पुरुष पुरुष और स्त्री स्त्री ही रहती है। लिंग-विपर्यय नहीं होता।

संस्कृत में तीन लिंग हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग, और क्लीवलिंग। संस्कृत से निकली हुई भाषाओं का विचित्र हाल है। किसी में तीन लिंग, किसी में दो और किसी में एक भी नहीं, जैसे गुजराती-मराठी में तीन हैं। बँगला और उड़िया भाषाओं में संस्कृत-तत्सम शब्द संस्कृत के अनुसार उन्हीं तीन लिंगों में विभक्त हैं, पर ठेठ बँगला और उड़िया शब्द लिंग-रहित है। पंजाबी और सिंधी की तरह हिंदी में भी दो ही लिंग हैं। यहाँ स्त्री या पुरुष के सिवा कोई नपुंसक नहीं। अगर कुछ गड़बड़ भी है तो चील-कौओं में। क्योंकि हिंदी में कौआ नित्य पुंलिंग और चील नित्य स्त्रीलिंग है। पर तो भी कुछ लोग हिंदी के लिंगप्रकरण पर कुठाराघात करने के लिए तुले बैठे हैं। अगर इनकी चलती तो बँगला की तरह हिंदी के लिंग का भी आज तक सफाया हो जाता। पर भगवान् गंजे को नाखून ही नहीं देता।

लिंग-विरोधियों का कहना है कि हिंदी का लिंग-भेद बड़ा कठिन है। और भाषाओं में तो संज्ञा-सर्वनाम में लिंग होता है;

पर हिंदी की क्रिया भी लिंग से खाली नहीँ। इससे भिन्न भाषा-भाषी ही नहीँ, हिंदी-भाषा-भाषी भी हैरान हैँ। बहुत सावधान रहने पर भी वे लिंग की भूलोँ से नहीँ बच सकते, क्योँ कि हिंदी मैँ सजीवोँ की कौन कहे, निर्जीव भी स्त्रीलिंग-पुंलिंग के फेर मैँ पड़े हैँ। इसलिए जहाँ तक बने, जल्द इस बला को हिंदी से दूर करना चाहिए, क्योँ कि हिंदी के राष्ट्रभाषा होने मैँ लिंग बड़ी भारी बाधा डाल रहे हैँ। इत्यादि।

एक ग्रंथ मैँ लिखा है—"हिंदी मैँ सबसे बड़ा झगड़ा लिंग-भेद का है। इसके कोई भी स्थिर नियम नहीँ हैँ, केवल बोल-चाल और मुहावरे के अनुसार इस पर काररवाई की जाती है।" यदि कोई भिन्न भाषा-भाषी या विदेशी ऐसी बात कहता तो आश्चर्य न होता, पर ऐसा वह कहते हैँ जो हिंदी के सुलेखक और सुकवि भी कहाते हैँ। इनके मुँह से यह सुनकर कि हिंदी के कोई स्थिर नियम नहीँ, आश्चर्य ही नहीँ, कौतूहल भी होता है। स्थिर नियम हैँ या नहीँ, यह कुछ न कह केलॉग साहब क्या कहते हैँ, केवल वही यहाँ उद्धृत कर देता हूँ। केलॉग साहब ने अँगरेजोँ के लिए हिंदी का व्याकरण बनाया है। उसमैँ वह कहते हैँ—

"हिंदी-शब्दोँ का लिंग यद्यपि मनमाने तौर से बना लिया गया है तथापि कुछ नियम हैँ, जिनसे अधिकांश शब्दोँ का लिंग जाना जा सकता है।" बस, इन्हीँ दोनोँ उक्तियोँ को आप मिला-कर देख लेँ, और जो कुछ समझना हो समझ लेँ। एक तो हिंदी-भाषा-भाषी हैँ और दूसरे भिन्न भाषा-भाषी विदेशी। पहले सज्जन कहते हैँ कि स्थिर नियम नहीँ हैँ और दूसरे कहते हैँ कि हैँ। मैँ समझता हूँ कि आप लोग पहले सज्जन की ही बात मानेँगे, क्योँ कि वह हिंदी के सुपुत्र हैँ। उनकी ही बात सत्य हो सकती

है। पर अफ़सोस ! बात उल्टी निकली। केलॉग साहब ने कुछ नियम बताए हैँ, जिनमैँ पहला यह है—अर्थ और प्रत्यय के अनुसार लिंग होता है। और बात भी यही है। पर जो यह नियम नहीँ जानते वे लिंग-विपर्यय करते और कहते हैँ कि हिंदी मैँ स्थिर नियम ही नहीँ है। खैर, नियम है कि जिन शब्दोँ मैँ 'हट', 'वट' आदि प्रत्यय होँ वे स्त्रीलिंग होते हैँ, जैसे बनावट, चिल्लाहट आदि। कुछ लोगोँ ने भ्रम-वश 'बुलाहट' और 'बनावट' के वज़न पर 'झंझट' को भी सारी पहना एक नया झंझट खड़ा कर दिया। 'झंझट' मैँ 'हट', 'वट' कोई प्रत्यय नहीँ। यह स्वतंत्र शब्द है। फिर यह कैसे स्त्रीलिंग हो गया, इसका विचार कोई नहीँ करता। सभी 'गड्डलिकाप्रवाह' न्याय से चले जाते हैँ। अगर सोचैँ विचारैँ तो ऐसी भद्दी भूलैँ ही न होँ। शिष्ट प्रयोग की तरफ जाइए, तो वहाँ भी झंझट आपको पुरुष-वेष मैँ ही मिलेगा।

हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक स्वर्गवासी पंडित प्रतापनारायण मिश्र 'मन की लहर' मैँ कहते हैँ—

"मिला रहे अपने प्यारे से नशे मैँ उसके चूर रहे;
जी चाहे सो करे और सारे झंझट से दूर रहे।"

'भारतमित्र' के भूतपूर्व संपादक स्वर्गवासी बाबू बालमुकुंद गुप्त दिल्ली-प्रांत के वासी थे। उन्हेँ इस विषय का मैँ प्रमाण (authority) मानता हूँ। वह 'झंझट' को सदा पुंलिंग ही मानते थे। इसका प्रमाण 'गुप्त-निबंधावली' मैँ है। उसमैँ लिखा है—"न मार्ग चलते भीड़ मैँ रुकने का झंझट।" जोधपुरनिवासी प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसाद जी मुंसिफ 'बहराम बहरोज' नाम की हिंदी-पुस्तिका मैँ लिखते हैँ—"बहरोज ने यह खबर सुनकर अपने बाप और चचा से कहा कि मैँ तो विवाह करके

बड़े झंझट में पड़ गया।" 'सतसई-संहार'-वाले श्रीयुत पंडित पद्मसिंह शर्मा संस्कृत-हिंदी के अच्छे विद्वान् और फ़ारसी-उर्दू के आलिम हैं। उनसे पूछा, तो वह लिखते हैं—"झंझट के झगड़े में आपकी सर्वतोमुखी जीत हुई। उर्दू के कोशकार फ़रहंगे-आसफ़िया के लेखक देहलवी और जलाल तथा जलील लखनवी इसे मुज़क्कर (पुंलिंग) ही मानते हैं।" पद्मसिंहजी सिर्फ़ राय ही नहीं देते, पुंलिंग में इसका प्रयोग भी करते हैं। अपने पत्र में आप लिखते हैं—'अब आपको गृहस्थ के झंझटों का अधिक सामना करना पड़ेगा।" इसलिए झंझट के पुंलिंग होने में अब झगड़ा या झंझट न होना चाहिए।

झंझट के बाद 'आहट' है। इसकी भी खूब खींचा-तानी है। इसमें 'हट' प्रत्यय नहीं, तो भी इसका प्रयोग स्त्रीलिंग-सा है। स्वर्गवासी राजा लक्ष्मणसिंह हिंदी के उन्नायकों में से हैं। वह आगरे के निवासी थे। इससे उनके प्रयोग प्रमाण-स्वरूप हैं। राजा साहब के बनाए 'अभिज्ञान शाकुंतल'-नाटक की दो प्रतियाँ मेरे सामने हैं। एक तो आगरे की मून-प्रेस की सन् १६०४ की छपी है और दूसरी सन् १६०८ ई० की है, जो प्रयाग के इंडियन प्रेस में छपी है। इन दोनों में बड़ा भारी लिंगभेद है। अब मैं किसे प्रमाण मानूँ, यह समझ में नहीं आता।

आगरेवाली प्रति के दसवें पन्ने की टिप्पणी में लिखा है—"हमारी आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंकते।" और प्रयागवाली के चौथे पृष्ठ में है—"हमारी आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंके।" शायद यह छापाखाने के भूतों की लीला हो। इसलिए लिंग-परिवर्तन का दूसरा उदाहरण लीजिए। आगरेवाली प्रति के १२६वें पन्ने में माढव्य की यह उक्ति है—"जहाँ मणि-जटित पटिया बिछी है यही माधवी कुंज है। निस्संदेह यह ऐसी दीखती

है, मानो मनोहर फूलों की भेंट लिए हमें आदर देती है। चलो, यहीं बैठें।" यहाँ 'कुंज'-शब्द की ओर आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ। इसे राजा साहब ने स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है। अब दूसरी प्रति खोलिए। उसके ८८वें पन्ने में वही माढव्य कहता है—"यह माधवी कुंज, जिसमें मणि-जटित पटिया बिछी है, यद्यपि निर्जीव है तो भी ऐसा दिखाई देता है, मानो आपका आदर करता है। आओ, चलकर बैठें।"

अच्छा 'आहट' सुन अभी मत चौंकिए। आइए 'कुंज' की ओर। देखिए, यहाँ क्या गुल खिलते हैं। चतुर्थ संमेलन के सभापति हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि पं० श्रीधर पाठक भी आगरा-वासी हैं। वह अपने 'ऊजड़ गाँव' में कहते हैं—

"प्यारी-प्यारी वे मलूक हरियाली कुंजें।
शोभा-छवि-आनंद-भरी सब सुख की पुंजें।"

'जगत-सचाई-सार' में भी पाठकजी ने कुंज को स्त्रीलिंग लिखा है। यथा—

"ये नदियाँ ये झील-सरोवर, कमलों पर भौंरों की गुंज ;
बड़े सुरीले बोलों से अनमोल, घनी वृक्षों की कुंज।"

इससे सिद्ध होता है कि आगरे की ओर 'कुंज'-शब्द स्त्री-लिंग में प्रयुक्त होता है और काशी प्रयाग में पुंलिंग। शायद इसी से संपादक ने 'कुंज' और 'आहट' का लिंगपरिवर्तन कर राजा साहब की इसलाह कर दी है।

कुछ लोग 'गेंद' को पुंलिंग लिखते हैं; पर यह स्त्रीलिंग है। यथा—

"स्याम मोहिं चोरी लगाई।
खेलत गेंद गिरी जमुना में, तू मेरी गेंद छिपाई।"

उर्दूवाले भी गेंद को स्त्रीलिंग ही मानते हैं। जैसे—

"हाथ मैँ गेँद उठा तुमने उछाली बेढब।"

इसी तरह 'आत्मा' के स्त्रीलिंग होने का प्रमाण भी दादू-दयाल की विनती मैँ मिलता है—

"तन-मन निर्मल आत्मा, सब काहू की होय,
दादू विषय-विकार की बात न बूझे कोय।"

अब तीसरा नियम लीजिए। 'इया' प्रत्ययांत-शब्द स्त्रीलिंग होते हैँ। यथा चिड़िया, फुड़िया आदि। अब वजन पर लिंग बनानेवालोँ ने 'चिड़िया' के वजन पर 'तकिया' और 'पहिया' को भी स्त्रीलिंग बना डाला, हालाँकि इनमैँ 'इया' प्रत्यय नहीँ है। स्वर्गवासी पंडित केशवराम भट्ट ने अपने व्याकरण मैँ साफ लिखा है—'आकारांत संज्ञाएँ पुंलिंग होती हैँ। जैसे—तकिया पहिया आदि।" मैँ समझता हूँ, लिंग-प्रकरण के स्थिर नियम सिद्ध करने के लिए ये उदाहरण अलम् होँगे।

एक लेखक कहते हैँ—"जहाँ तक कोई नपुंसक लिंग वाला प्रयोग स्पष्ट और निर्विवाद रूप से अशुद्ध न ठहर जावे वहाँ तक उसमैँ लिंग-भेद-विषयक अशुद्धियाँ स्थापित न करनी चाहिए, क्योँकि वास्तव मैँ निर्जीव पदार्थ न पुंलिंग हैँ और न स्त्रीलिंग।" वास्तव मैँ बात ऐसी ही है। कोई समझदार इसका खंडन न करेगा। निर्जीव पदार्थ न पुंलिंग हैँ, न स्त्रीलिंग और न नपुंसक ही हैँ। उन्हेँ किसी लिंग मैँ मान लेना सचमुच सरासर अन्याय है। पर लाचारी है। यह हमारा आपका शरीर वास्तव मैँ नाशवान् है—यह जगत् वास्तव मैँ अनित्य और असत्य है, पर तो भी हम संसार के सब काम करते ही हैँ।

जो अँगरेजी-भाषा आजकल गंगाजल से धोई-पखारी बड़ी पवित्र समझी जाती है, वह भी इसका शौक करती है अँगरेजी मैँ जहाज (Ship), चंद्रमा (Moon), रेलगाड़ी (Train)

और देश (Country) आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, और सूर्य पुंलिंग है। क्यों? क्या यह सजीव है? हम हिंदू तो सूर्य-चंद्र को भला सजीव मानते भी हैं; पर योरपवाले नहीं मानते। फिर सूर्य पुरुष और चंद्रमा नारी क्यों? अँगरेजी के असीम अनुग्रह से ही हमारा प्यारा भारतवर्ष आज भारतमाता बन गया है।

अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग-निर्माण उनके गुणानुसार होता है। मधुरता, कोमलता, मनोहरता, सुकुमारता, निकृष्टता, हीनता, लघुता, दुर्बलता आदि गुणवाली वस्तुएँ स्त्रीलिंग और कठोरता, उग्रता, दृढ़ता, सहनशीलता, उत्कृष्टता आदि गुणवाले पदार्थ पुंलिंग कहलाते हैं।

मेरे इस कथन की पुष्टि 'भारतमित्र'-संपादक पं० अंबिका-प्रसाद वाजपेयी-कृत 'हिंदी-कौमुदी' नामक व्याकरण से होती है, जिसमें लिखा है—"अप्राणिवाचक शब्दों के स्त्रीलिंग से हीनता या छुटाई का भाव निकलता है।"

पर अँगरेजी की गवाही बिना आजकल पक्ष पुष्ट नहीं होता। इसलिए ढूँढ़-ढाँढ़कर अँगरेज गवाह लाया हूँ। अँगरेज भी कैसा? खासा सिविलियन। इनका नाम है मिस्टर जॉन बीम्स, यह अपने कंपरेटिव ग्रामर 'तुलनात्मक व्याकरण' में कहते हैं—बड़ी, मजबूत, भारी और मोटी चीजें पुंलिंग; छोटी, कम-जोर, हल्की तथा पतली चीजें स्त्रीलिंग, और सुस्त, ढीली तथा तुच्छ वस्तुएँ क्लीबलिंग समझी जाती हैं। आनंद की बात है, हिंदी में क्लीबता को स्थान नहीं मिला। इसलिए इस बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

हिंदी के राष्ट्रभाषा होने में लिंग बाधा डालते हैं या नहीं, यह अभी विचारणीय नहीं है। अभी तो यह विचारना है कि लिंग के प्रयोग में इतनी विभिन्नता क्यों है और उसके सुधार

का क्या उपाय है ? साथ ही यह भी निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि मैं अंग-भंग कर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में नहीं—"वा सोने को वारिए, जासों टूटे कान।" मैं वैसा सोना नहीं चाहता जिससे कान टूटें। मैं हिंदी की वैसी उन्नति नहीं चाहता जिससे उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो ! इसके सिवा हिंदी अपनी सरलता और व्यापकता के कारण स्वयं ही राष्ट्रभाषा बन गई है और बनती चली जा रही है।

बाकी रही लिंग के प्रयोग की कठिनता, वह शिक्षा और अभ्यास से दूर हो सकती है। अँगरेजी-जैसी कठिन और दुरूह भाषा हम सीख लेते हैं, जिसमें अक्षरों का अभाव, वर्ण-विन्यास का व्यतिक्रम और उच्चारण की उच्छृंखलता है। नियम का तो वहाँ नियम ही नहीं है। लिखा जाय प्साल्म (Psalm) और पढ़ा जाय 'साम'। ऐसे ही देअर (There) और हीअर (Here)। सर्किल (Circle) में 'सी' क और स दोनों का काम करती है। इसके सिवा जहाँ रनिंग वाटर (Running Water) माने बहता पानी और वाकिंग स्टिक (walking stick) माने 'टहलती हुई छड़ी' न होकर 'टहलने की छड़ी' होता है वहाँ के गड़बड़झाले का क्या ठिकाना है। जब इस भाषा को हम केवल सीख ही नहीं, अँगरेजों की तरह ठीक बोल और लिखकर गौरव प्राप्त कर सकते हैं तो हिंदी का लिंग-ज्ञान कौन बड़ी बात है। आखिर यह भारत की भाषा है और संस्कृत से निकली है। इसके सीखने में देर न लगेगी। जरा ध्यान देने से ही हिंदी का लिंग-प्रकरण सहज हो जायगा।

हिंदी के लिंग पर लोगों की इतनी कड़ी नजर क्यों है ? इसलिए कि कुछ पंडिताभिमानी अहंमन्य लेखकों ने इसका दुरुपयोग किया है और कर रहे हैं। मनमाने तौर से लिंग का

प्रयोग हो रहा है। इसका कारण हिंदी-शिक्षा और समालोचना का अभाव है। अगर सीखकर लोग हिंदी लिखें तो ऐसी गड़बड़ न हो। कोई तो अँगरेजी के सहारे हिंदी का सुलेखक बन जाता है और कोई संस्कृत के। कुछ करीमा-मामकीमा पढ़कर और कुछ बिना पढ़े ही हिंदी के सुलेखक तथा सुकवि बन बैठते हैं। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि ये लोग हिंदी न लिखें। जरूर लिखें। मैं इसके लिए इनसे विनीत प्रार्थना करता हूँ। पर सीख-कर लिखें। यदि सीखकर लिखते तो हिंदी के लिंग की आज यह दुर्दशा न होती। हमारे संस्कृत के पंडितजी महाराज 'आत्मा' को कभी साड़ी न पहनाएँगे, क्योंकि उनके सिर पर संस्कृत-प्रणाली से पगड़ बाँधते आए हैं। लाख समझाने पर भी वह अपना अभ्यास न छोड़ेंगे। हिंदीवाले तो 'आत्मा' को स्त्रीलिंग लिखेंगे, पर पंडितजी 'आत्मा' को स्त्रीलिंग बनाना अपनी आत्मा के विरुद्ध मानते हैं। इसी तरह 'स्वाहा' के रहते पंडितजी 'अग्नि' को कभी स्त्रीलिंग न मानेंगे और न 'देवता' को वह पुंलिंग ही; क्योंकि संस्कृत में 'अग्नि' पुंलिंग, और 'देवता' स्त्रीलिंग है। इसी तरह वायु, महिमा, अंजली, तान, शपथ, धातु, देह, जय, मृत्यु, संतान, समाज, ऋतु, राशि, विधि आदि शब्दों में झगड़ा है, क्योंकि संस्कृत में ये पुंलिग हैं, पर हिंदी में स्त्रीलिंग। हिंदी लिखने के समय इनका प्रयोग हिंदी के अनुसार ही होना उचित है।

अब उर्दूवालों की लीला सुनिए। वे 'धरमसाले' में 'पाठ-साले' का 'चर्चा' कर 'मोहनमाले' से अपना 'मान-मर्यादा' बढ़ाते हैं, पर हिंदीवाले ऐसा नहीं करते। वे बहुत करेंगे तो अपनी 'कबीला' की 'हुलिया' अपनी 'तायफा' को बता 'उम्दी धोती' न दे 'बेहूदी बातें' अक 'ताजी खबर' सुनाएँगे। कहने का तात्पर्य यह

कि हिंदी में धर्मशाला, पाठशाला, चर्चा, माला, मर्यादा आदि शब्द स्त्रीलिंग हैं, पर उर्दूवालों ने इन्हें पुंलिंग बना दिया है। इसी तरह कबीला, हुलिया, तायफ़ा पुंलिंग हैं, पर हिंदी के रँगरूटों ने इन्हें स्त्रीलिंग कर डाला है। उम्दा, वेहूदा, ताजा वगैरह लफ्ज स्त्रीलिंग के लिए कभी उम्दी, वेहूदी, ताजी नहीं बनते। इनका रूप सदा एक-सा रहता है।

हिंदी के लिंग-विभाग पर प्रायः सभी प्रांतवाले कुछ-न-कुछ अत्याचार करते हैं, पर वदनाम हैं वेचारे; विहारी-बंधु ही। इसका कारण समझ में न आया। अगर विहार में 'हाथी विहार करती है' तो पंजाब से 'तारें आती' हैं, और युक्तप्रांत के काशी प्रयाग में लोग 'अच्छी शिकारें मारकर 'लंबी सलामें' करते हैं। अगर विहार में 'दहा खड़ी' होती है तो मारवाड़ में 'बुखार चढ़ती है', 'जनेऊ उतरता' है; और कानपुर में 'बूँद गिरता' और 'रामायण पढ़ा जाता' है। विहार में 'हवा चलता' है, तो झालरापाटन में 'नाक कटता है' और मुरादाबाद में 'गोलमाल मचती' है। फिर विहार ही क्यों वदनाम है!

कुछ गड़बड़ कोषकारों ने भी की है। पादड़ी क्रेवन अपनी 'रायल डिक्शनरी' में 'अफवाह' और 'भूख' को पुंलिंग लिखते हैं। अँगरेजों की बात जाने दीजिए। हमारे हिंदीवाले भी 'तथैव च' हैं। किसी ने संस्कृत-लिंग का सहारा लिया और किसी ने उर्दू-फारसी का। कुछ ने तो दोनों की खिचड़ी पकाई है। हिंदी का माननीय कोष एक भी नहीं, जिसके भरोसे हिंदी का लिंग ठीक हो सके।

सबसे बढ़कर हैं वजन पर लिंग बनानेवाले। उनका कहना है कि जब 'बंदूक' स्त्रीलिंग है, तो 'संदूक' को भी स्त्रीलिंग होना चाहिए, क्योंकि इन दोनों का वजन याने तुक एक है। इसी तरह

मकान के वजन पर दूकान को पुंलिंग या दूकान के वजन पर मकान को स्त्रीलिंग होना चाहिए।

हिंदी के सुलेखक कहलानेवाले एक सज्जन ने संदूक को दोनों लिंगों मैं व्यवहार किया था। मैं ने इसका कारण पूछा तो बोले—"जिस समय बड़े संदूक का खयाल आ गया, पुंलिंग लिखा और छोटे संदूक का खयाल आया तो स्त्रीलिंग लिखा।" यह माकूल जवाब सुन मैं चुप हो रहा, और कुछ पूछने की हिम्मत न पड़ी।

समास और संधि-युक्त पदों के लिंग मैं भी लोग गड़बड़ करने लगे हैं। ऐसे स्थानों मैं उत्तर शब्द के अनुसार ही समस्त पद का लिंग होता है। जैसे—इच्छानुसार, ईश्वरेच्छा। यहाँ 'अनुसार' अंत मैं है, इसलिए 'इच्छा' के रहते भी इच्छानुसार पुंलिंग है और ईश्वरेच्छा मैं 'इच्छा' अंत मैं है, इसलिए यह स्त्रीलिंग है। इसी नियम के अनुसार चाल चलन और चाल-व्योहार भी पुंलिंग हैं, पर केलॉग साहब ने इन्हें स्त्रीलिंग बताया है। यह उनकी भूल है।

'भली भाँति' की जगह 'भली प्रकार' और 'अच्छी तरह' की जगह 'अच्छी तौर' से लिखने की चाल चली है, पर यह तौर अच्छा नहीं और न प्रकार ही भला है।

संस्कृत के कुछ प्रेमी हिंदी मैं भी अपने संस्कृत-प्रेम का परिचय दे हिंदी को असंस्कृत कर रहे हैं। वे 'शृंगार-संबंधिनी चेष्टा' 'उपयोगिनी पुस्तकें', 'कार्यकारिणी सरकार', 'परोपकारिणी वृत्ति', 'प्रभावशालिनी वक्तृता', 'मनोहारिणी कविता' हा नहीं, 'प्रबला स्त्री' का भी प्रयोग करने लगे हैं। अब 'भविष्यत् पत्नी' और 'भावी पत्नी' के स्थान पर 'भविष्यंती पत्नी' और 'भाविनी पत्नी' के भी दर्शन होंगे। फिर 'सुंदरा कन्या' 'पवित्रा पाठशाला' मैं 'विदुषी व्यक्तियों' से 'संस्कृता भाषा' पढ़ेगी। इधर 'स्थायी

समिति' 'अभागी हिंदी' की 'शोचनीय स्थिति' देख 'स्वतंत्रता-वादी महिला' की भाँति 'प्रभावशाली देवता' से प्रार्थना कर रही है। इससे हिंदी बोलनेवाली व्यक्तियाँ, हस्तिनी शंखिनी के साथ कहीं 'कुलिनी', 'पुरुषिनी' न बन जायँ।

भ्रम, भूल, हठ, दुराग्रह, प्रांतीयता चाहे जिस कारण से हो, हिंदी में उभयलिंगी शब्दों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जाती है। यह हिंदी के लिए हानिकारक है। यदि यही दशा रही तो अनर्गलता बढ़ जायगी। इसलिए मेरी राय है कि एक समिति बना ली जाय जो समाज, पुस्तक, साँस, आत्मा, हठ, सामर्थ्य, प्रलय, यज्ञ, पीतल, कुशल आदि शब्दों का लिंग-निर्णय कर दे, और वही शुद्ध माना जाय।

प्रांतीयता का प्रेम छोड़कर दिल्ली-मथुरा-आगरे के प्रयोगों का अनुकरण सबको करना चाहिए, क्योंकि मेरी समझ से यहीं के प्रयोग शुद्ध और माननीय हैं। और प्रांतों के प्रयोग इनके प्रयोग के सामने कट जायँगे, क्योंकि हिंदी की जन्मभूमि यहीं है, और यहीं के निवासी अहलेजबाँ हैं। दिल्ली, मथुरा, आगरा इन तीनों में मत-भेद हो, तो आगरे को प्रधानता देनी चाहिए, क्योंकि हिंदी के प्राचीन और नवीन कवि अधिकांश आगरे या आगरे के आस-पास हुए हैं। शुद्ध अँगरेजी सीखने के लिए जैसे हम अँगरेजों के बनाए ग्रंथ पढ़ते और उनके मुँह की ओर देखा करते हैं, वैसे ही शुद्ध लिंगप्रयोग सीखनेवालों को दिल्ली-आगरा-मथुरावालों के मुँह की ओर देखना चाहिए, और प्राचीन कवि और लेखकों के ग्रंथ पढ़ने चाहिए। लिंग-सुधार का यही अच्छा और सरल उपाय है।

सोलहवीं सुरभि--

(श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)

साहित्य की चेतना क्या है और वह चेतना किस प्रकार सार्वभौम है—यही दिखाने का प्रयत्न लेखक ने किया है। विश्व में विभिन्न आदर्शों और विभिन्न समाजों के होते हुए भी एकत्व का स्वरूप दिखाई देता है। जिस प्रकार के लौकिक संबंध एक देश में दिखाई देंगे उसी प्रकार के दूसरे देश में भी, इसलिए देश-काल के आवरण के होते हुए भी जीवन में एक ही धारा रूप बदलकर प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। साहित्य में यही एकत्व साध्य होता है। यही कारण है कि विभिन्न देशों में विरोध की लौकिक स्थिति होते हुए भी उनके साहित्यों में विरोध नहीं दिखाई पड़ता। इसी एकत्व को लेखक ने बड़ी ही तर्कपूर्ण शैली और समर्थ शब्दावली में प्रस्तुत किया है। केवल साहित्य ही में नहीं, कलाओं में प्रस्तुत एकत्व के दर्शन लेखक ने किए हैं।

तीर्थ-सलिल

कलाधर अनंत के वक्षःस्थल पर विहार करता है। वहाँ जरा और मृत्यु का भय नहीं, मर्त्यलोक की भावना नहीं। कलाधर की ज्योत्स्ना मर्त्यलोक को ही आप्लावित करती है। महिमा-मंडित राजप्रासादों और पापमय कारागारों में वह एक ही भाव से क्रीड़ा करती है। कलाधर के समान कवि भी संकीर्णता से विमुक्त रहते हैं। उनकी कला देश और काल के व्यवधान को दूर कर देती है। कवि अपनी कला के द्वारा विश्व-भाव को ही खोजते और उसी को व्यक्त करते हैं। उनके भाव का अनुभव सभी जातियों के मनुष्य कर सकते हैं। उनकी वाणी सभी के मुख में, भाषा-रूप में, परिस्फुट हो सकती है। यह सच है कि कवि मनुष्य ही है, और प्रत्येक मनुष्य में उसका व्यक्तिगत और जातिगत विशेषत्व होता है। भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न कालों के भिन्न-भिन्न आचार-व्यवहार होते हैं। प्रत्येक भाषा की भी एक विशेषता होती है। कवि इन्हीं से अपने काव्य की रचना करता है, इन्हीं से अपनी कला के लिए उपकरण-संग्रह करता है। देश और काल से पृथक् विश्व-नामक किसी भी पदार्थ की कल्पना हम नहीं कर सकते। कवि की कला यही है कि वह विशेष में भी निर्विशेष विश्व को प्रकट करता है। जो देश और काल से परिमित है उसी के भीतर वह शाश्वत का रूप अभिव्यक्त करता है। वह हमें सीमा में असीम के दर्शन कराता है, अनंत सत्य को मूर्तिमान् कर इंद्रिय-ग्राह्य बना देता है। कला की यही कुशलता है। कवि भले ही विदेशी नाम और रूप का

वर्णन करे, वह भले ही विजातीय दृश्य को अंकित करे, परंतु हम कवि के उसी अनुभव को ग्रहण करते हैं जो नाम और रूप से परे है। वही कवि की मर्मवाणी है; वही कला का ध्येय है। अस्तु। प्रकृति के अनंत सौंदर्य-भांडार से कला की सृष्टि होती है। परंतु कला प्रकृति-सौंदर्य की प्रतिच्छाया नहीं है, वह मनुष्य के अंतःसौंदर्य का वाह्य रूप है।

जिस प्रकार कवि की कृति में उसकी आत्मा निवास करती है, उसी प्रकार प्रत्येक चित्र में चित्रकार की आत्मा लीन रहती है। प्रत्येक कला-कोविद के अंतर्जगत् में दैवी प्रकृति की जो आनंददायिनी मूर्ति है वही उसकी कला में प्रकट होती है। काव्य उसी की भाषा, संगीत उसी की ध्वनि और चित्र उसी की छाया है। जो शिल्पकार अपने अंतर्जगत् में उस मूर्ति का दर्शन कर लेता है, उसी के शिल्प में यथार्थ सौंदर्य रहता है। जिसका अंतःकरण मलिन है उसकी कला में सौंदर्य का विशद रूप नहीं प्रकट होगा। कला में व्यक्तित्व की यही प्रधानता है और इसी से विभिन्नता आती है। परंतु इस विभिन्नता में भी एकता है। वह है उसका मनुष्यत्व। सभी देशों और सभी कालों में मनुष्य मनुष्य ही रहेगा। सम्राट् अपने वैभव के कारण एक दरिद्र कृषक से अवश्य बड़ा है, परंतु मनुष्यत्व के संबंध में दोनों बराबर हैं। एक पुण्यात्मा अपने चरित्र-बल से किसी भी पतित मनुष्य से उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है; परंतु मनुष्य के रूप में दोनों एक ही स्थान ग्रहण करेंगे। यही मनुष्यत्व कला का आदर्श है। वह क्या है, सो हम आगे बतलाने की चेष्टा करते हैं।

मनुष्यत्व का यथार्थ रूप देखने के लिए हमें उस मानस-सरोवर का पता लगाना चाहिए, जहाँ से सभी देशों की कलाएँ

धारा मेँ निस्सृत होती हैँ। साधारणतः कला के पाँच विभाग किए जा सकते हैँ—स्थापत्य, भास्कर्य, चित्रकला, संगीत और कविता। इन पाँचोँ मेँ हम सौंदर्य के रूप पाते हैँ। एक विराट् रूप और दूसरा कोमल रूप। एक हिमालय है, तो दूसरा मंदाकिनी। सौंदर्य के विराट् रूप मेँ हम विराट् वासना, विराट् प्रतिहिंसा, विराट् क्षमता और विराट् आत्म-त्याग देखते हैँ। और, उसके कोमल रूप मेँ हम स्नेह, दया, करुणा, ममता आदि भावोँ की प्रधानता पाते हैँ। सभी देशोँ और कालोँ की कला मेँ हम यही बात देखेँगे। अतएव हम यह कह सकते हैँ कि मनुष्यत्व मेँ महत्ता और कोमलता, इन्हीँ दो गुणोँ का संमिश्रण हुआ है। किंतु कला की सार्थकता इन गुणोँ को श्रेयस्कर पथ पर ले जाना है।

अब हम यह देखना चाहते हैँ कि कला-कोविदोँ ने सौंदर्य का आदर्श कहाँ देखा, मनुष्योँ को पवित्र करने के लिए तीर्थ-सलिल कहाँ एकत्र किया। जब उन्होँने करुणा और स्नेह को मूर्तिमान कर देखना चाहा, तब उसको अन्नपूर्णा के ही रूप मेँ देखा। जब उन्होँने शक्ति को साकार सिद्ध किया, तब दुर्गा प्रकट हुई। जब उन्होँने संसार की ऋद्धि-सिद्धि, विद्या, विज्ञान और प्रेम-रूप को कहीँ एकत्र किया, तब उनको लक्ष्मी और सरस्वती, वीनस, एथेना के ही स्त्रीरूप मेँ देखा। उसी प्रकार उन्होँने शांति को शिव, शौर्य को विष्णु और मृत्यु को यम-पुरुष के रूप मेँ पाया। दयामयी पृथ्वी को उन्होँने स्त्री का रूप दिया, और अनंत ऐश्वर्य को इंद्र का पुरुषरूप प्रदान किया। यह प्राचीन युग की कल्पना-मात्र नहीँ है। इसमेँ सत्य का गूढ़ तत्त्व विद्यमान है। वह तत्त्व क्या है, यह जानने के लिए हम विश्व-साहित्य के उच्च आदर्शोँ पर एक बार दृष्टिपात करते हैँ। रामायण

में एक ओर प्रेम है, तो दूसरी ओर आशंका। एक ओर शौर्य है, तो दूसरी ओर प्रतिहिंसा। होमर के 'इलियड' में, पुरुषों की उत्कट लालसा और स्त्रियों का विषाद, पुरुषों का दर्प और स्त्रियों का बलिदान, ये ही दो भाव एक साथ अंकित हुए हैं।

महाभारत में जिस प्रकार शौर्य, सत्य और धर्म की प्रधानता है, उसी प्रकार दर्प, विद्वेष और क्रूरता के भी निदर्शन हैं। शेक्सपियर के नाटकों में मानव-चरित्र का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसके 'किंग लियर' में जहाँ बंधुत्व और पितृस्नेह है, वहाँ अज्ञान और क्रूरता भी। 'हेमलेट' में यदि पितृभक्ति और प्रेम है, तो स्वेच्छाचारिता और उपेक्षा का भाव भी, 'ओथेलो' में सरलता और शौर्य है, तो जिघांसा और असूया भी। इससे पुरुषों की महिमा का अनुमान किया जा सकता है। पुरुष विराट् भावों की ओर ही अग्रसर होता है। भगवान् बुद्धदेव की शांति, ईसा मसीह का प्रेम, अर्जुन की शक्ति, धर्मराज का धैर्य, एकलिस का पराक्रम, ये सब विराट् रूप के ही द्योतक हैं। भवसागर के तट पर अथवा संसार के रण-क्षेत्र में इनकी शक्ति उद्दीप्त होती है। ये दिनकर के प्रकाश के समान मनुष्यों की अंतर्निहित शक्तियों को जाग्रत करके, कार्यक्षेत्र में अग्रसर करते हैं। परंतु स्त्रियों की कोमलता, चंद्र-कला की ज्योत्स्ना के समान, मनुष्यों के अंतःकरण में सुधा-वर्षा करती है। यदि हम लोग पृथ्वी पर स्वर्ग का दृश्य देखना चाहते हैं, तो मातृस्नेह में स्वर्गीय शोभा का अनुभव कर सकते हैं। दरिद्रों की कुटियों और श्रीमानों के राजप्रासादों में वह सबसे अधिक मूल्यवान् रत्न है। यदि मनुष्य को उसका गर्व है, तो पशु को भी। मातृस्नेह ने समस्त पृथ्वी को आप्लावित कर रखा है। वहाँ जातिभेद या वर्णभेद नहीं है। देश और काल उसको मर्यादित नहीं कर सकते, अत-

एव मातृरूप को अंकित करने में सभी कोविदों ने अपनी कला की सार्थकता समझी है।

मातृस्नेह के साथ ही अपत्य-स्नेह है। अपत्य पर पिता का उतना ही अधिकार है, जितना माता का। तो भी शिशु माता ही की गोद में शोभा देता है। शिशु में जो सरलता है, वह माता ही की सरलता की प्रतिच्छाया है। सरलता पवित्रता से पृथक् नहीं है। हम गौरव देखकर चकित होते हैं, पर सरलता देखकर उसमें तन्मय हो जाते हैं। अपत्य के रूप में यह अमूल्य धन हमें स्त्रियों ही से मिला है। जिस प्रकार क्षुद्र शीत-बिंदु में सूर्य की अनंत आभा स्पष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शिशु के सौंदर्य में स्वर्ग की प्रतिमा परिस्फुट होती है। शिशु को हम पृथ्वी पर स्वर्ग का पारिजात कहेंगे, जिसने अच्छे और बुरे का ख्याल न करके सभी को अपने आमोद से प्रमुदित कर रखा है। जिस प्रकार बधिक के हृदय में भी 'आर्थर' पवित्र स्नेह का संचार कर देता है, उसी प्रकार दुष्यंत के हृदय में 'सर्वदमन' आशा का प्रकाश फैला देता है। मनुष्यत्व का रूप दोनों में एक ही भाव से व्यक्त होता है। अतएव कला में शिशु ने अपना एक पृथक् राज्य स्थापित कर लिया है। कवियों के लिए शैशव की लीला सचमुच वर्णनीय विषय है। पृथ्वी में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है तो शिशु में। यही कारण है कि कवियों और चित्रकारों ने बाल्यकाल का चित्र अंकित कर पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य की सृष्टि की है। पाश्चात्य चित्रकारों ने ईसा मसीह के बाल्य-काल का चित्रांकण किया है, और भारतीय चित्रकारों ने बाल-गोपाल का। किसी कवि ने कहा है कि, आकाश की उज्ज्वल नक्षत्रावली जिस प्रकार आकाश का काव्य है, उसी

प्रकार पृथ्वी का विचित्र कुसुम-संभार। परंतु हमारी दृष्टि में तो पृथ्वी के शिशु-रूपी सचेतन पुष्प में ही सबसे अधिमें सौंदर्य है।

महाकवि होमर ने अपने ओडेसी नामक काव्य में शिशु लयस का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। कवि-कुल-गुरुक कालिदास का शिशु-वर्णन भी बड़ा ही हृदयग्राही है। तुलसीदास का बाल-वर्णन भी मनोहर है। कालिदास और तुलसीदासजी ने शिशुक्रीड़ा का केवल दर्शनमात्र कराया है; परंतु सूरदास ने शिशु-जीवन का रहस्य खोल दिया है। 'सूरसागर' के दशम स्कंध में कृष्ण की बाललीला का विशद वर्णन है।

मनुष्यत्व का तीसरा रूप उसके दुःख और दारिद्रय में प्रकट होता है। यदि कोई भावना मनुष्य जाति को एक करती या कर सकती है तो वह दुःख की भावना है। जैसे निशा के अंधकार में मनुष्यों का व्यक्तिगत भेद नष्ट हो जाता है, वैसे ही दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। सुख और समृद्धि में मनुष्य मनुष्य से दूर हो सकता है; पर दुःख और दारिद्रय में वह अपना हाथ बढ़ाकर शत्रु को भी गले लगाता है। मनुष्यों में सहानुभूति का होना स्वाभाविक है। इसका उदय दुःख में ही होता है। साहित्य और कला में वेदना का इतना प्रबल भाव होने का यही कारण है।

अनादि काल से मनुष्य एक चिरंतन आदर्श की खोज कर रहा है। अपने जीवन की एक अवस्था में जिसे वह, सत्य का पूर्ण रूप समझकर, ग्रहण करता है, उसी को जीवन की दूसरी अवस्था में त्याज्य समझता है। जीवन की अपूर्णावस्था में सत्य का पूर्ण रूप कैसे उपलब्ध हो सकता है? साहित्य और कला में

जब मनुष्यत्व का आदर्श प्रदर्शित होता है, तब हम वहाँ इसी अपूर्णता का दर्शन करना चाहते हैं। गौरव के पूर्ण रूप में भी हमें जब कोमलता का आभास मिलता है, तब हमारा चित्त उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है। साहित्य में आदर्श रूप से जिन पात्रों की सृष्टि हुई है, उनके चरित्र में मानव-स्वभाव की दुर्बलता का चित्र अवश्य अंकित होता है और तभी वे हमारे हृदय में स्थान प्राप्त कर लेते हैं। यदि उनकी क्षमता की ओर ध्यान दें, तो हम उनका वह विराट् रूप देखेंगे, जो हमारे लिए अनधिगम्य है। परंतु मनुष्य की सभी दुर्बलताओं से मुक्त होने पर उनमें हम अपने जीवन का प्रतिरूप देख लेते हैं। मनुष्यों के स्वभाव में दुर्बलता अवश्य है। परंतु दुर्बलता नीचता नहीं है। अन्याय से किसी की नीचता नहीं सिद्ध होती। जो दुराचारी हैं, वे भी अन्याय का—यदि उस अन्याय से उनका कोई स्वार्थ नहीं है—समर्थन नहीं करते। जहाँ अपनी हानि या लाभ नहीं है, वहाँ दुष्ट भी दूसरों की दुष्टता का सुफल नहीं देखना चाहते। इच्छा अपनी वस्तु है। परंतु उसके अनु-सार कर्म करने की क्षमता सभी में नहीं रहती। जब हम किसी प्रलोभन में पड़कर कोई काम करते हैं, तब दूसरों से अभिभूत होते हैं। तब उसके लिए हमें जो अनुताप होता है उससे हमारी हृद्गत इच्छा का स्वरूप प्रकट होता है। जब तक हम अपने अवगुणों के अधीन हैं, तब तक दासत्व-बंधन में पड़े रहते हैं। जब हम अनुतप्त होते हैं, तब मुक्त हो जाते हैं। अतएव मनुष्य के लिए जिस प्रकार किसी भी इच्छा के वशीभूत होकर प्रलोभन में पड़ना स्वाभाविक है, उसी प्रकार उसका अनुतप्त होना भी उसके स्वभाव के अनुकूल है। कला-कोविदों की सृष्टि में हम वेदना और अनुताप का प्राधान्य अवश्य पावेंगे।

कविता की उत्पत्ति के विषय में, भारतवर्ष में, जो कथा प्रसिद्ध है, उससे यह भली भाँति सिद्ध होता है कि वेदना की अनुभूति से ही मनुष्य के हृदय में स्वर्गीय भाव का उद्रेक होता है। क्रौंच का वध देखकर आदि-कवि के हृदय में जो शोक हुआ था वह श्लोक के रूप में व्यक्त हुआ। विश्व की वेदना से सहानुभूति रखकर कवि ने चरम सौंदर्य की सृष्टि की। उनकी कृति में धर्म की विजय और पाप की पराजय ही की कथा नहीं है, दुःख की विजय और त्याग की महत्ता भी वर्णित है। रामचंद्र का गौरव लंका-विजय अथवा रावण-वध पर प्रतिष्ठित नहीं है; उनका यथार्थ गौरव तपस्वी के रूप में है, जिसने सदैव कर्तव्य के लिए दुःख का आलिंगन किया। दुःख की यह महत्ता साहित्य के सभी श्रेष्ठ ग्रंथों में प्रदर्शित हुई है। वियोगांत नाटकों की सृष्टि भी इसी महत्ता को दिखाने के लिए हुई है। उन नाटकों में हम प्रायः धर्म की विजय नहीं देखते। इसके विपरीत पाप ही की विजय देख पाते हैं, परंतु धर्म का पथ सुखमय नहीं होता। यदि वह सुखमय होता, तो कदाचित् उसका गौरव ही नष्ट हो जाता। यही कारण है कि वियोगांत नाटकों में पराजित व्यक्ति ही के प्रति हमारी सहानुभूति अधिक होती है। दुःखानुभूति की विशेषता यही है कि उससे सहानुभूति व्यक्त होती है। संसार दुःखपूर्ण है, मनुष्यों का जीवन दुःखमय है। इसीलिए इस संसार में प्रेम और सहानुभूति की प्राप्ति हो सकती है।

यही कारण है कि साहित्य और कला में करुणरस सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इस मर्त्यलोक में जीवन और मृत्यु की जो लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी करुण वेदना की जो ध्वनि उठ रही है, क्षणिक संयोग के बाद अनंत वियोग की जो दारुण निशा आती है, उसी से

मर्माहत होकर कवि के हृदय से विश्व-वेदना का उद्‌गार निकलता है, जिसके स्वर से व्यथित हृदय में भी शांति आ जाती है।

कला में अश्रु अप्रिय-दर्शन नहीं है। यथार्थ में, कितने ही चित्रों में अश्रु से अधिक सौंदर्य का विकास होता है। किंतु अश्रु ही शोक और दुःख का एक मात्र लक्ष्य नहीं है। साधारण चित्रकार करुणरसात्मक चित्र अंकित करने में प्रायः अश्रु की सहायता लेते हैं। किसी चित्र में अश्रुपूर्ण नेत्र अंकित किए जाते हैं और किसी में पतनोन्मुख अश्रु-जल। किंतु सभी अवस्थाओं में शोक का परिणाम अश्रु-जल नहीं होता। जब दुःख अधिक रहता है, तब छाती फट जाती है; परंतु आँखों से आँसुओं की एक बूँद भी नहीं टपकती, और न मुँह से कोई शब्द ही निकलता है। अगाध दुःख का वर्णन करते समय कवि 'हाय! हाय!' की धूम नहीं मचाते। वे कभी-कभी विरह-व्यथा के वर्णन में आँसुओं की झड़ी और हिचकियों का ताता लगा देते हैं—परंतु जब यही व्यथा अत्यंत गंभीर रूप धारण कर लेती है, तब कवि अश्रुओं का वर्णन नहीं करते।

शोक का एक कारण मृत्यु है। अतएव करुणरस में मृत्यु का दृश्य प्रदर्शित किया जाता है। मृत्यु के संबंध में मनुष्यों की जैसी भावनाएँ हैं, वे ही कला में व्यक्त होती हैं। जिनके लिए मृत्यु अनंत वियोग की निशा है, वे मृत्यु को आलिंगन नहीं कर सकते। मृत्यु उनको असह्य है। परंतु जो यह मानते हैं कि मृत्यु के भीतर अनंत जीवन निहित है, वे मृत्यु का भी स्वागत करते हैं, मृत्यु उनके लिए आशा का संदेश लाती है। दुःख की भावनाएँ सदैव मर्मस्पर्शी होती हैं। कहा जाता है, मनुष्य स्वभाव से ही आनंद का इच्छुक है। तो फिर दुःख की भावना से उसको

कौन-सा आनंद प्राप्त होता है ? वह किसके लिए दुःख का स्वागत करता है ?

मनुष्य-जीवन में सर्वत्र प्रकाश नहीं है, अंधकार भी है। मनुष्य में जैसे क्षमता है, वैसे ही दुर्बलता भी। मनुष्य का पतन हो सकता है, इसीलिए उसके उत्थान-पतन दृग्गोचर होते हैं। हिंदी के कितने ही विद्वान् मनुष्य-जीवन के अंधकारमय भाग को साहित्य में देखना ही नहीं चाहते। पाप की वीभत्स लीलाओं को वे साहित्य से दूर ही रखना चाहते हैं, परंतु जीवन की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिए हमें अपूर्णावस्था के भीतर से होकर ही जाना पड़ेगा। मनुष्य की क्षमता यही है कि वह पतितावस्था से ही उच्चतम अवस्था को पहुँच सकता है। उसकी दुर्बलता यह है कि वह उच्चतम अवस्था प्राप्त करके भी भ्रष्ट हो सकता है। दुराचारियों की जिन वीभत्स कृतियों से हमारा चित्त उद्विग्न हो उठता है, वे भी जीवन की एक अवस्था की सूचना देने के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य के लिए अधःपतन की पराकाष्ठा जितनी सच्ची है, उतना ही सच्चा अभ्युत्थान भी। यही कारण है कि जिन विश्व कवियों ने हमें जीवन की उच्चतम अवस्था दिखलाई है, उन्होंने जीवन की निम्नतम अवस्था की भी उपेक्षा नहीं की। यही नहीं, उन्होंने श्रेष्ठ चरित्रों में भी मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता प्रदर्शित कर दी है।

मनुष्य-संसार में पुरुष भी हैं और स्त्रियाँ भी। पुरुषों की क्षमता और दुर्बलता स्त्रियों की क्षमता और दुर्बलता से भिन्न है। पुरुष जिसे दुर्बलता समझता है, वही स्त्रियों की क्षमता है। पुरुष की क्षमता ऐश्वर्य में है और स्त्रियों की क्षमता दारिद्र्य में। जहाँ पुरुष दुर्बल है, वहाँ स्त्री की शक्ति प्रकट होती है।

पुरुष सर्वस्व प्राप्त कर सकता है और स्त्री सर्वस्व दे सकती है। पुरुष के लिए अप्राप्य कुछ भी नहीं है, और स्त्री के लिए अदेय।

पुरुष स्त्री को गिराकर खड़ा रहता है और स्त्री गिरकर भी पुरुष की रक्षा करती है। अपने धर्म की रक्षा के लिए पुरुष स्त्री का परित्याग कर सकता है और स्त्री परित्यक्त होकर भी पुरुष के कर्म की रक्षा करती है। हमारी समझ में स्त्री ही पृथ्वी की कल्पलता है। कल्पलता की आवश्यकता समृद्धि में नहीं, अभाव में है। जब पुरुष अकिंचन हो जाता है तभी वह स्त्री से सर्वस्व प्राप्त करता है। साहित्य में स्त्रियों के चरित्र का विकास जैसा अंकित किया गया है, उसी की चर्चा आगे की जाती है। स्त्रियों के चरित्र-विकास के संबंध में सबसे पहले यही प्रश्न उठता है कि नारी-प्रकृति के मूल उपादान क्या हैं? जब दुष्यंत ने राज-सभा में शकुंतला पर कपट का दोष लगाया, तब गौतमी ने कहा—"राजन्, यह दोषारोपण अन्याय है। शकुंतला प्रकृति की गोद में पली है। वह छल करना जानती ही नहीं।" परंतु दुष्यंत ने यह निश्चयपूर्वक कहा कि कपटाचरण नारी-प्रकृति के मूल-उपादानों में से एक है। दुष्यंत के इस कथन की परीक्षा के लिए यह आवश्यक है कि नारी-प्रकृति पर विचार किया जाय। यदि स्त्री मानव-समाज से पृथक् रहे, सभ्यता के संपर्क से बिलकुल दूर रहे तो उसके चरित्र में कौन-सी विशेषता रहेगी? यह तो संभव नहीं कि मनुष्य-संसर्ग से कोई भी स्त्री बिलकुल पृथक् रह सकती है। नारी-चरित्र की आलोचना में हमें केवल इसी बात पर ध्यान देना चाहिए कि समाज और सभ्यता का प्रत्यक्ष प्रभाव न रहने पर नारी-चरित्र का विकास किस प्रकार होता है।

हमारी समझ में, जिन स्त्रियों के चरित्र का संगठन सभ्यता के संपर्क से पृथक्, निर्जन स्थान में, हुआ है, उनके मानसिक

भावों में तीव्रता होनी चाहिए। उनका प्रेम निर्मल रहेगा; किंतु वह वन-नदी के प्रवाह के समान तीव्र होगा। उनमें सरलता रहेगी, परंतु उसके साथ स्वच्छंदता भी होगी। उनकी वासना निर्बाध और प्रखर होगी।

साहित्य में नारी-चरित्र की आलोचना करते समय हमारे आगे एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि स्त्रियों का जीवन ही प्रेममय होता है; प्रेम में ही उनके जीवन की सार्थकता है। पतितावस्था में भी उनका यह प्रेम-भाव उज्ज्वल बना रहता है।

× × × ×

जो सच्चे कवि हैं, वे देश और काल के घेरे से परे हैं। देश और काल का आश्रय ग्रहण कर, उनमें रहकर, उन्हीं के उपकरणों का संग्रह कर वे सभी देशों और सभी कालों के लिए उपयुक्त आदर्श की सृष्टि करते हैं।

परिमल

वर्णविन्यास

हिंदी मैं वर्णविन्यास (स्पेलिंग या हिज्जे) का विचार पहले तो कुछ होता भी था, पर अब तो उन संस्थाओं के कर्ता-धर्ता भी इसका विचार नहीं रखते जिन्हों ने किसी समय इस संबंध में कोई व्यवस्था बाँधी थी। हिंदी में अनुस्वार और पंचम वर्ण दोनों से काम लिया जाता है। छापे की कठिनाई के कारण और लिखने में झंझट होने से कवर्ग, चवर्ग और टवर्ग के वर्णों के पूर्व अधिकतर अनुस्वार का ही व्यवहार होता है केवल तवर्ग और पवर्ग के वर्णों के पूर्व ही पंचम वर्ण लगते हैं। वस्तुतः हिंदी में अनुस्वार का उच्चारण 'न्' है। केवल कवर्ग के साथ अंशतः और पवर्ग के साथ पूर्णतः पंचम वर्ण सुनाई पड़ता है। इसलिए यदि हिंदी में अनुस्वार का व्यवहार सर्वत्र किया जाय तो कोई अड़चल नहीं है। ऐसा हिंदी की परंपरा के अनुकूल भी है। हिंदी के पुराने हस्तलिखित ग्रंथों में अनुस्वार का ही व्यवहार मिलता है। अनुस्वार की विंदी का प्रयोग सानुनासिक उच्चारण के लिए भी इधर होने लगा है, विशेषतः दीर्घ स्वरों के साथ। पहले ऐसे स्थानों पर चंद्रविंदु (ँ) का व्यवहार होता था; क्या लिखने में और क्या छापने में। इधर छपाई में केवल विंदु ही चलने लगा तो लिखाई-पढ़ाई से भी चंद्रविंदु उठता जा रहा है। हस्तलिखित ग्रंथों में चंद्रविंदु का प्रयोग बराबर मिलता है। छपाई की काठनाई के कारण समाचार-पत्रों में यदि ऐसा होता है तो हो, लिखाई-पढ़ाई में ऐसा क्यों? कहीं तो शुद्ध रूप बना रहे! 'हैं' और 'हैँ' में ठीक उच्चारण करने से अंतर पड़ता है, पहले का उच्चारण 'हैम्' या 'हैन्' सा होगा। अनुस्वार के लघु

उच्चारण के लिए ही उसके विंदुवाले रूप (˙) में चंद्राकार (˘) लगाया गया है। क्योंकि चंद्राकार लघुप्रयत्न या ह्रस्वत्व का बोधक है। कुछ लोगों ने अब यह कहना भी आरंभ किया है कि ण, न और म में बिंदु या चंद्रविंदु नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि ये वर्ण स्वयम् अनुनासिक हैं। उनके अनुस्वार 'प्राणों, दोनों, कामों' के स्थान पर 'प्राणो, दोनो, कामो' ही लिखे जायँ। विचार करने से ज्ञात होता है कि हिंदी में अनुस्वार का प्रयोग इनके साथ भी होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो 'माँस' और 'मास' में भेद न रहेगा। 'दोनों' और 'दोनो' में भी वैयाकरणों ने भेद किया है। हिंदी में संबोधन के वहुवचन में सानुनासिकता हटा दी जाती है। इसलिए 'ब्राह्मणों' और 'ब्राह्मणो' में भेद होता है। 'सज्जनों', और 'सज्जनो', 'गुणधामों' और 'गुणधामो' में भी ऐसा ही भेद है। अतः यह प्रयास ठीक नहीं प्रतीत होता।

हिंदी में क्रियाओं के दो दो रूप चलते हैं—आई-आयी, गए-गये। इसी प्रकार कुछ विशेषण शब्दों में भी दुहरे रूप चलते हैं—नई-नयी, नए-नये। इनमें से पहले रूप तो उच्चारण के अनुगामी हैं और दूसरे रूप व्याकरण की विधि के। 'आया' पुलिंग का रूप है, अतः व्याकरण के अनुसार स्त्रीलिंग का 'ई' प्रत्यय लगने से 'आयी' रूप बना; इसी प्रकार बहुवचन का 'ए' प्रत्यय लगने से 'आये'। पर 'नागरी' में उच्चारण के अनुसार लिखना ही ठीक है। संस्कृत के "गतः' से 'गअ' या 'गय' होता है इसी से खड़ी बोली में 'गया', ब्रजभाषा में 'गयो' या 'गो' और अवधी भाषा में 'गवा' या 'गा' रूप होते हैं। ब्रज और अवधी के स्त्रीलिंग और बहुवचन में स्वरवाले रूप ही चलते हैं, 'य व' वाले रूप नहीं; फिर खड़ी बोली में ही 'य' वाले रूप क्यों?

'ई' लगाकर यदि व्याकरण का अनुधावन करें तो 'किया' का स्त्रीलिंग रूप 'कियी' होना चाहिए, पर होता है 'की'। यह 'की' वस्तुतः 'किई' है, पर दीर्घसंधि हो जाने से 'की' रूप हो गया है; ऐसे ही 'पिया' से 'पी', 'दिया' से 'दी'। इससे स्पष्ट है कि पूर्व मैं सवर्ण स्वर होने से 'ई' की संधि हो जाती है। य और व मैं जब स्वर-प्रत्यय मिलता है तो उनका उड़ जाना भी देखा जाता है, जैसे, 'पाया' (पलंग का) और 'चारपाई', 'तिपाई'; 'ताया' (बाप का बड़ा भाई, ताता या ताऊ=चाचा) और 'ताई' (बड़ी चाची), 'तवा' और 'तई' (थाली के ढंग की छिछली कड़ाही, जिसमैं जलेबी या मालपूआ बनाते हैं), 'लावा' और 'लाई'। इसलिए आई, गई और आए, गए रूप ही ठीक हैं। 'हुआ' मैं 'आ' है ही, अतः 'हुई' और 'हुए' लिखना ही ठीक है, 'हुयी' या 'हुये' तो व्याकरण से भी विहित नहीं। 'चाहिए' को 'चाहिये' लिखने मैं पुंलिंग, स्त्रीलिंग या बहुवचन की दुहाई नहीं दी जा सकती, अतः उसका स्वरवाला ही रूप होना चाहिए। संप्रदान के 'लिए' और क्रिया के 'लिए' मैं भेद करते हैं। स्वर से क्रिया लिखनेवाले पहले को 'लिये' लिखते हैं। पर इसकी भी आवश्यकता नहीं, दोनों के उच्चारण मैं कोई भेद नहीं है। यहीं यह कह देना उचित होगा कि संस्कृत के तत्सम शब्दों मैं 'य' का ही व्यवहार हो। 'स्थायी' या 'उत्तरदायी' को 'स्थाई' या 'उत्तरदाई' नहीं लिखना चाहिए। ऐसे शब्दों के भी तद्भव रूपों मैं 'ई' का ही व्यवहार करना ठीक होगा; जैसे, 'वाजपेयी' का तद्भव 'बाचपेई' (बैसवाड़ी)। क्रियाओं के कुछ दुहरे रूप विधि और भविष्यत्काल मैं और मिलते हैं; जैसे, आएगा (आयेगा) और आवेगा, लाए (लाये) और लावे। इनमैं खड़ी के रूप पहलेवाले ही हैं, 'व' वाले रूप कदाचित् पूर्वी के प्रभाव से चल पड़े हैं।

हिंदी मेँ संस्कृत से आए कुछ हलंत शब्दोँ के रूप दुहरे चलते हैँ; जैसे, भगवान्-भगवान, जगत्-जगत, पृथक्-पृथक आदि। हिंदी मेँ इन शब्दोँ के अंतिम व्यंजन का उच्चारण एक सा ही होगा, चाहे 'भगवान्' लिखेँ चाहे 'भगवान'। सच पूछिए तो हिंदी मेँ इन शब्दोँ को अकारांत ही लिखना चाहिए। हिंदी मेँ बने नामोँ या शब्दोँ से इनका हिंदी-रूप स्पष्ट हो जाता है; जैसे, भगवानदीन, भगवानदास, भगवानी, जगतसेठ, पृथकता आदि। 'भगवानदीन' का संस्कृत रूप या तो 'भगवद्दीन' होगा (यदि 'दीन' का अर्थ 'दरिद्र' लेँ) या भगवद्दत्त (यदि 'दीन' का अर्थ 'दिया हुआ' लेँ)। इस नाम को 'भगवान्दीन' लिखना तो आधी संस्कृत और आधी हिंदी लिखना होगा। 'भगवती' नाम संस्कृत है तो 'भगवानी' हिंदी। 'जगत्सेठ' को संस्कृत विधि से 'जगच्छ्रेष्ठ' होना चाहिए, हिंदी मेँ 'जगत्सेठ' तो 'आधा पंडित आधा साव' होगा। यदि जगन्नाथ, जगदीश आदि शब्दोँ की दुहाई दी जाय तो कहना पड़ेगा कि ये शब्द संस्कृत से बने-बनाए लिए गए हैँ, हिंदी मेँ नहीँ बने। बोली मेँ तो बेचारे 'जगन्नाथ' 'जगरनाथ' हो जाते हैँ। 'जगद्देव' (जगदेव) को 'जगरदेव' होना पड़ता है। 'जगदंबा' जी 'जगतंबा' हो जाती हैँ। 'पृथकता' के स्थान पर संस्कृत के अनुसार हिंदी मेँ 'पृथक्ता' ही रहे तो रह सकती है, पर 'महानता' का क्या होगा ? 'महानता' भले ही विद्वानोँ मेँ अशुद्ध समझी जाय, 'महत्ता' ही शुद्ध रहे, पर यह कहनेवालोँ को कौन रोक सकेगा कि 'महत्ता' संस्कृत है तो 'महानता' हिंदी। पंडितोँ की नकल कर चलने से हिंदीवालोँ को धोखा भी खाना पड़ा है। संस्कृत के कुछ स्वरांत शब्द भी हलंत लिखे जा रहे हैँ; जैसे, श्रीयुत का श्रीयुत्, प्रत्युत का प्रत्युत्, शाश्वत का शाश्वत्, अद्भुत का अद्भुत् आदि। अतः यदि संस्कृत रूपोँ का भी आग्रह

हो तो 'भगवान्' आदि पूर्वोक्त हलंत शब्दों के रूप कम से कम वैकल्पिक अवश्य स्वीकृत किए जायँ।

ऊर्ध्वग रेफ से युक्त व्यंजन विकल्प से दुहरा हो जाता है * जैसे, कार्य-कार्य्य, कर्ता-कर्त्ता आदि। हिंदी में सरलता के विचार से केवल एक व्यंजन वाले रूपों का ही चलना ठीक है। जहाँ महाप्राण वर्ण होता है वहाँ विकल्प से उसी का अल्पप्राण जुड़ता है; जैसे अर्द्ध-अर्ध, ऊर्द्ध-ऊर्ध्व, वर्द्धन-वर्धन। हिंदी में एक ही वर्णवाला रूप लिखने में क्या हानि है ?

व और व का विवेक प्राचीन समय में सबसे अच्छा नारद-शिक्षा में मिलता है। उसके अनुसार जहाँ 'व' का परिवर्तन 'उ' या 'ऊ' में हो जाय अथवा जहाँ प्रत्यय की संधि से 'व' की प्राप्ति हो वहीं अंतस्था वर्ण आता है, अन्यत्र वर्ग का 'व' ही होता है।† इसके अनुसार तो संस्कृत में चलनेवाले वे शब्द अधिकांश 'व' वाले ही जान पड़ते हैं जो वहाँ भी 'व' से लिखे जाते हैं और हिंदी में भी। इसके अनुसार 'वेद' को 'वेद' ही लिखना चाहिए। संस्कृत में 'व' की विशेष प्रवृत्ति को कुछ लोग दक्षिणी मानते हैं। 'व' की प्रवृत्ति हिंदी में इतनी बढ़ने लगी है कि जहाँ 'व' ही होना चाहिए वहाँ भी 'व' की स्थापना हो गई है। 'बृहस्पति' जी 'वृहस्पति' हो गए, तो 'बृहत्' को भी 'वृहत्' होना पड़ा। 'वाण' शुद्ध समझा जाने लगा और 'बाण' अशुद्ध। 'विंदु' की क्या चिंता!

---

* अचो रहाभ्यां द्वे, अष्टाध्यायी। ८।४।४६।

† उदूठौ यस्य विद्येते यो वः प्रत्ययसंधिजः।
अन्तस्थां तं विजानीयात्तदन्यो वर्ग्य इष्यते॥

यह 'विंदु' हो गया। 'बाह्य' (बाहरी) भी 'वाह्य' (ढोनेवाला, गाड़ी या बैल) हुआ। जिस प्रकार हिंदी के प्रभाव से वक्तृता देते हुए संस्कृत के कुछ पंडित 'सेचन' के बदले 'सिंचन' बिना झिझक के कह जाते हैं, 'वातावरण' या 'वायुमंडल' से भी नहीं घबराते, उसी प्रकार इस प्रवृत्ति के कारण एक वैयाकरणजी को एक बार यह भ्रम हुआ कि 'पिवति' (पीता है) के स्थान पर 'पिवति' ही ठीक है। उन्होंने अपनी पुस्तक में इसका शुद्धि-पत्र तक लगाया है। इससे बढ़कर 'व' का प्रसार और क्या होगा।

'श' का प्रभाव भी 'व' से कम नहीं है। 'कैलास' संस्कृत में ही 'कैलाश' हो गया। बहुत दिनों से 'वसिष्ठ' का तालव्य भाव ('वशिष्ठ') हो चुका है। जब गुरुजी की यह दशा हो गई तो 'कोसल' की 'कौसल्या' भी 'कोशल' देश की 'कौशल्या' हो गईं और हिंदीवालों की कृपा से 'कौशिल्या' जी बनकर प्रसिद्ध हुईं। घुड़कनेवाले 'केसरी' जी 'केशरी' हुए सो हुए, पर गरजनेवाले 'केसरी' भी डरकर 'केशरी' बन बैठे। यहाँ तक भी कोई बात नहीं, गौड़ देश की कृपा से संस्कृत में भी 'श' की शंखध्वनि हो गई तो हो गई। पर जब खिलनेवाले 'विकास' 'प्रकाश' के भाई 'विकाश' बनकर अपनी ज्योति जगमगाने लगे हैं तो वे चमकें चाहे जितना पर खिलते नहीं। हिंदी में पढ़े-लिखे लोग तालव्य उच्चारण बनाए हुए हैं। नहीं तो 'श' का बोलचाल में यह उच्चारण नहीं है। व्रज और अवधी भाषा में भी 'श' और 'ष' दंत्य हो जाते हैं, क्योंकि शौरसेनी में यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से है।* अतः हिंदी के अनुकूल तो पूर्वोक्त शब्दों के दंत्य 'स' वाले रूप ही दिखाई पड़ते हैं।

---

* शषोः सः, प्राकृतप्रकाश २।४३।

'तालु' और 'मूर्धा' में भी झगड़ा है, 'दंत' और 'तालु' में ही नहीं; क्योंकि दोनों पड़ोसी हैं, रहन-सहन में भी और बोलीबानी में भी। 'शश' चाहे 'षष' न हुआ हो* पर 'कोश' का तालु चटक गया, पेट भी फट गया, फिर तो इनके विशुद्ध भाई 'कोष' बन गए। 'वेश' ने 'वेष' बदला, 'विमर्श' का भी 'विमर्ष' होने लगा। हिंदीवाले संस्कृत के इन दुहरे रूपों में से मूर्धन्यों को ही अधिक अपनाते हैं, भले ही उनकी वाणी तालव्यों से ही मिलती हो।

मूर्धन्यों में से महाप्राण तक निकाले जाने लगे, अल्पप्राणों से ही काम चल रहा है। 'धोखा-धड़ी' के प्राण आधे हैं, 'धोका' खाने का यही फल है। 'ठंढ' को भी 'ठंड' आ लगी तो कोई बात नहीं, पछाहीं हवा ठहरी, उसमें 'ठंडक' विशेष हुआ करती है। पर 'पृष्ठ' की पीठ क्यों टूट गई ? भला 'पृष्ट' से कैसे काम चलेगा ? 'कनिष्ठ' भी छोटे होकर 'कनिष्ट' हुए। 'कर्मनिष्ठ' की निष्ठा अनिष्ट से जा मिली, वह हुआ 'कर्मनिष्ट'। 'कुष्ठ' गलकर 'कुष्ट' रह गया। बद्ध 'कोष्ठ' खुलकर 'कोष्ट' हुआ। 'स्वादिष्ट' भी 'स्वादिष्ठ' नहीं रहा। 'घनिष्ट' से भी 'घनिष्ठता' जाती रही।

शब्दों के कुछ रूप हिंदी में पच्छिम और पूरब के उच्चारणगत भेद के कारण भी दुहरे हो गए हैं। पश्चिम में 'उँगली' दिखाते हैं, पूरब में 'अँगुली' या 'अँगुरी'। 'र ल' के अभेद से कई शब्दों में पूरब-पछाहँ के कारण रूपभेद हो गया है। पछाहँ का 'फुटकल' पूरब में 'फुटकर' हो जाता है। इसी प्रकार आँचल-आँचर, अटकल-अटकर आदि। 'ल' का 'न' भी होता है; जैसे, 'अड़चल' (पश्चिमी) का 'अड़चन' (पूर्वी)। 'र'

---

* शशः षष इति मा भूत्। पलाशः पलाष इति मा भूत्।—महाभाष्य।

का 'ड़' भी होता है, 'घबराना' का 'घबड़ाना'। पश्चिमी 'भले-मानस', जिनकी पत्नी 'भलीमानस' है, पूर्व में 'भलेमानुस' बने बैठे हैं।

भ्रम से दुहरे रूप कैसे चलते हैं इसके तो बहुत से प्रमाण मिल जायँगे। 'एकत्र' इकट्ठे के अर्थ में है ही, इसमें 'इत' के लगने से 'एकत्रित' पैदा हुआ, जो खूब चलता है। 'सशंक' को 'सशंकित' करते भी लोग 'शंकित' नहीं होते। 'प्रफुल्ल' फूलकर 'प्रफुल्लित' हो गया। 'आवश्यक' से 'आवश्यकीय' निकल पड़ा। कहीं कहीं संज्ञा-शब्दों में हिंदी के ढंग से 'इत' प्रत्यय लगाकर विशेषण बनाने लगे हैं; जैसे, 'क्रोध' से 'क्रोधित' 'क्षोभ' से 'क्षोभित'। संस्कृत के पंडित इससे बहुत ही 'क्रुद्ध' और 'क्षुब्ध' हैं। 'सिद्ध' की चेली 'सिद्धि' की बहन 'सिद्धता', 'कांत' की कन्या 'कांति' फिर 'कांतता', 'प्रसिद्ध' की पुत्री 'प्रसिद्धि' फिर 'प्रसिद्धता' तथा 'ख्यात' की बेटी 'ख्याति' फिर 'ख्यातता' किसी को कष्ट नहीं देतीं। पर 'सुजन' की बड़ी बेटी 'सुजनता' के बाद 'सौजन्यता' बहुतों को चिढ़ाती है, वह अपने भाई 'सौजन्य' का भी अधिकार छीन रही है। इनके अधिकारों पर हिंदी में जो 'वादविवाद' ('वादाविवाद' नहीं) हुआ था उसे बहुत से लोग भूले न होंगे। झुकाव सरलता की ओर ही होता है, 'सौजन्यता' में वह भी नहीं। भला 'लावण्यता' में कौन सा 'लावण्य' है! सरलता की ओर झुकाव अन्यत्र अवश्य मिलता है। 'महत्' में 'त्व' लगने से 'महत्त्व' होता है, पर उसे हिंदी के बहुत से लेखक 'महत्व' लिखते हैं। यही दशा 'तत्त्व' और 'सत्त्व' की भी है। 'उज्ज्वल' अब प्रायः 'उज्वल' लिखा जाता है। 'संन्यास' के बिंदु को 'सन्यास' लेना पड़ा। 'सन्यासी' नाम का पत्र निकलता था और 'सन्यासी' एक नाटक भी है।

कहीँ से बिंदु हटा तो कहीँ लगा भी। 'दुनिया' की 'दुनियाँ' को बदले थोड़े ही दिन हुए हैँ। 'आटा' अभी कल से 'आँटा' हुआ है।

'उद्देश्य' और 'उद्देश' का झगड़ा तो अब पुराना पड़ गया। 'उद्देश्य' संस्कृत मैँ ही सिद्ध बना बैठा है, हिंदी की कौन चलाए। 'उद्देश्य' और 'उद्देश' की लड़ाई बंद हो गई, 'उद्देश्य' सिद्ध हो गया, जम गया। इधर झगड़ा लगा है 'अनुगृहीत' और 'अनुग्रहीत' मैँ। 'संगृहीत' और 'संग्रहीत' लड़ पड़े हैँ। 'ग्रहीत' भले ही तुलसीदास के समय मैँ 'ग्रह-ग्रहीत' रहा हो, पर अब तो वह 'गृहस्थ' है। 'संगृहीत' के 'गृह' पर 'ग्रह' की क्रूर दृष्टि है।

कुछ शब्दोँ के ह्रस्व-दीर्घ स्वर के भेद से, दो दो रूप होते हैँ, हिंदी मैँ ही नहीँ संस्कृत मैँ भी; जैसे, अवलि-अवली, उषा-ऊषा, उष्मा-ऊष्मा, प्रतिकार-प्रतीकार, प्रतिहार-प्रतीहार आदि। हिंदी के भी कुछ शब्दोँ के दुहरे रूप हो गए हैँ पहले 'ऊँचाई' ही थी, अब 'उँचाई' भी है। 'तबीयत' को 'तबियत', 'दूकान' को 'दुकान', 'कानपूर, फतेहपूर, गोरखपूर, आदि को 'कानपुर, फतहपुर, गोरखपुर' आदि हुए बहुत दिन नहीँ बीते हैँ। 'दूधिया' पूरब मैँ 'दुधिया' होना चाहता है। कुछ वैयाकरण 'राजपूताना' को 'राजपुताना' बनाने पर तुले हैँ। पश्चिम मैँ खिंचा अर्थात् दीर्घ उच्चारण होता है, अतः उर्दू मैँ उक्त शब्दोँ का रूप वैसा ही चलता है। हिंदी मैँ बोलचाल की निकटता के कारण दूसरे प्रकार के रूप चल पड़े हैँ।

विदेशी शब्द हिंदी मैँ कैसे लिखे जायँ, इसका झगड़ा बहुत दिनोँ से चल रहा है। अरबी-फ़ारसी के शब्दोँ का उच्चारण हिंदी मैँ ज्योँ का त्योँ नहीँ होता। फिर भी उनके विदेशी उच्चारण को जो हिंदी मैँ सुरक्षित रखने के पक्षपाती हैँ वे लोगोँ को

मौलाना बनाना चाहते हैं क्या ? याद रखिए कि अनावश्यक लदाव बढ़ने से हिंदीवाले 'जनाब' को भी 'ज़नाब' बोलने लगेंगे और 'कागज' को भी 'क़ाग़ज़' लिखने लगेंगे। अतः 'क़ ग़ ज़' आदि में नीचे बिंदी का लगाना न तो हिंदी की जीभ के अनुकूल है और न कान के, हाथ के अनुकूल चाहे हो। इस पर एक घटना याद आई। कोई मौलाना साहब मिर्जापुर स्टेशन पर डिब्बे में से खड़े-खड़े बड़े जोर से 'क़ुली क़ुली' की आवाज लगा रहे थे। 'कुली' बेचारों की आँखें तो दूर से कुछ देख रही थीं, पर उनके कान साथ नहीं दे रहे थे। हिंदी के एक दिवंगत साहित्यज्ञ भी उसी डिब्बे में बैठे थे। मौलाना साहब की परेशानी देखकर उन्होंने उनसे कहा कि बड़ा काफ निकालकर पुकारिए तो आप का मतलब हल हो। किसी प्रकार जब उन्होंने बड़ा काफ छोटा किया तब कहीं सामान डिब्बे से बाहर निकलने की नौबत आई। तात्पर्य यह कि कोई भाषा अपनी परिचित ध्वनियों के ही शासन में विदेशी ध्वनियाँ रखती है। 'आहिस्तः', 'हमेशः' आदि में इसी से बहुत दिनों तक नकल नहीं चल सकी, इन्हें हिंदी का आकार ग्रहण करके 'आहिस्ता' और 'हमेशा' होना ही पड़ा। कई शब्दों के दुहरे रूपों का कारण है शुद्ध व्यंजन और अकारयुक्त व्यंजन का ग्रहण। हिंदी में 'अ' का विशिष्ट उच्चारण होता है। स्वराघात के कारण केवल व्यंजन या अकारांत व्यंजन में कोई भेद नहीं रह जाता। ऐसे शब्दों के दोनों ही रूप चल तो सकते हैं, पर हिंदी की प्रवृत्ति आकार की ओर ही अधिक है। पुराने 'सर्दार' फैलकर 'सरदार' हो गए, 'दर्बार' भी बढ़कर 'दरबार' हुआ। पर अभी इनकी दशा पर 'बिल्कुल' ने 'बिलकुल' विचार नहीं किया है।

अँगरेजी से आए शब्दों में पहले तो 'स्' 'ट' की संधि

संस्कृत के मन से हुई; जैसे रजिष्ट्री, रजिष्टर, रजिष्ट्रार, मजि-ष्ट्रेट, माष्टर आदि में। पर हिंदी में मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण ही नहीं है, इन अँगरेजी शब्दों में भी मूलतः मूर्धन्य उच्चारण नहीं था, अतः ये सब अब दंत्य 'स' से लिखे जाते हैं। अँगरेजी 'ओ' की लघु ध्वनि को हिंदी में 'ॉ' से व्यक्त करने का विधान किया गया है, यद्यपि बोलचाल में वह भी आ ही रह जाती है। पश्चिम में 'कालिज' बोला जाता है, पर अधिकतर लेखक 'कॉलेज' या कोई कोई तो दो सींग लगाकर 'कौलेज' लिखते हैं। यदि ऐसे शब्द हिंदी के हो गए हैं तो इन्हें हिंदी का आकार ही ग्रहण करना चाहिए। 'फॉर्म' बहुत दिनों से 'फार्म' हो गया है, छापेखानों में तो वह 'फर्मा' तक जा पहुँचा। पर 'अँगरेजीदाँ' या 'अँगरेजिहा' लोगों की बदौलत बहुत से चलते शब्दों को 'सुर्खाब का पर' लगा ही हुआ है। 'कॉलेज' तक तो कोई बात नहीं, पढ़े-लिखों की बोलचाल को वह प्रकट करता है, पर 'कौलेज' तो किसी काम का नहीं।

विदेशी शब्दों के लिखने में 'ऋ' (ृ) का व्यवहार व्यर्थ है क्योंकि हिंदी में इसका उच्चारण 'रि' है। लिखा तो जाता है 'अमृत' किंतु प्रायः बोला या पढ़ा जाता है 'अंमृत', लिखेंगे 'पितृ' पर उच्चारण करेंगे 'पित्तृ'। कारण यही है कि 'ऋ' से 'रि' हो जाती है अर्थात् ये शब्द 'अम्रित' और 'पित्रि' समझे जाते हैं। संस्कृत से आए शब्दों में तो एकता और परंपरा के विचार से उक्त रूपों का बना रहना ठीक है, पर विदेशी शब्दों में वैसा क्यों हो? 'ब्रिटेन' न लिखकर 'बृटेन' लिखने की क्या आवश्यकता है?

'न्' भी हिंदी के चलन के अनुसार नहीं लिखा जाता। 'सुपरिंटेंडेंट' न लिखकर 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' लिखना भद्दा है, 'सुप-

रिएटेएडेएट' को पंडिताऊ ढंग समझिए। जब 'पन्डित' लिखने का चलन नहीँ तो निष्कारण 'सुपरिन्टेन्डेन्ट' क्योँ लिखेँ ? हर्ष है कि धीरे-धीरे यह पद्धति आप से आप उठती जाती है। अरबी फारसी के शब्दोँ से तो यह शैली बहुत कुछ हट गई है। 'मुन्शी' या 'मन्शा' लिखनेवाला अब कदाचित् ही कोई मिले; पहले कई थे। 'म्' को 'न्' के ढर्रे से बिंदी द्वारा सर्वत्र नहीँ लिख सकते। 'य' के पूर्व 'म्' के बदले अनुस्वार लगाने से ध्वनि मेँ भेद हो जायगा। 'ण' 'न्' 'म्' के पीछे उसकी जैसी ध्वनि होती है पूर्वस्थित अनुस्वार के साथ उससे एकदम पृथक्। 'पुण्य' को 'पुंय', 'कन्या' को 'कंया' और 'च्चम्य' को 'च्चंय' लिख दें तो इन्हें 'पुञ्ञ' या 'पुञ्य' 'कञ्ञा' या 'कञ्या' और 'च्चञ्ञ' या 'च्चञ्य' सा पढ़ना पड़ेगा। अतः विदेशी 'कम्युनिक' को 'कंयुनिक' नहीँ लिख सकते। जहाँ शुद्ध 'म्' उच्चारण हो वहाँ अनुस्वार की बिंदी नहीँ लग सकती, क्योँ कि हिंदी मेँ उसका उच्चारण 'न्' होगा। 'मम्स' (गलसुआ का रोग) को 'मंस' लिखने से 'मन्स' पढ़ना पड़ेगा। अरबी 'शम्स' (सूर्य) को 'शंस' लिखकर 'शन्स' बोलना होगा। जहाँ दुहरा 'म' आता है वहाँ बिंदी लगाकर भी लिख सकते हैँ—हम्मीर या हंमीर, पर प्रचलन दुहरे 'म्' का ही है, जैसे, संमति, संमान आदि लिख सकते हैँ, पर लिखते नहीँ। अतः 'मुहम्मद' को मुहंमद तो लिख सकते हैँ, पर लिखते नहीँ।

कुछ विदेशी नामोँ के उच्चारण-भेद के कारण कई रूप चलते हैँ। सबसे अधिक दुर्दशा 'यूरोप' की हुई है। हिंदी लेखकोँ के चक्कर मेँ पड़कर योरप, यूरप, युरोप, योरोप, यूरुप, योरुप, योरूप आदि उसको अनेक रूप धारण करने पड़े। अमेरिका और अमरीका दो ही रूप हुए तो अफ्रिका, अफ्रीका, अफरीका ये तीन।

इनमें से ग्राह्य रूप के लिए विदेशी ध्वनि की निकटता का ही विचार सब कुछ नहीं हो सकता। जिस रूप के लेने से अन्य रूप चलाए जा सकें वही अनुकूल होगा। हिंदी में पहले 'अमरीका' चलता था, उर्दू में अब भी चलता है, पर इधर बहुत दिनों से वही 'अमेरिका' हो गया। विदेशी उच्चारण की निकटता ही इसका कारण नहीं, इस नाम से बने विदेशी विशेषण की निकटता भी इसका हेतु है। 'अमेरिकन' शब्द लाने के सुभीते ने भी ऐसा कराया है। उर्दूवाले 'अमरीकी' लिखते हैं पर हिंदीवालों के लिए 'अमेरिकी' चौंकानेवाला होगा। विदेशी 'अन' प्रत्यय की दासता खटकने योग्य है। लोग 'इटली' से 'इटाली' लिखना छोड़ बैठे, 'इटैलियन' चल पड़ा। भाषासंबंधी यह दासता दूसरी किसी दासता से भयंकर है। कोई विदेशी नाम लेकर और उसमें अपने प्रत्यय लगाकर विशेषण आदि बनाने की जब तक स्वतंत्रता न स्वीकृत होगी तब तक भाषा विदेशी प्रत्ययों की अनावश्यक बेड़ी से जकड़ती ही जायगी। हिंदी को दासता की यह बेड़ी पहनानेवाले समाचार-पत्र और मासिक-पत्र हैं, जो शीघ्र से शीघ्र अँगरेजी का अनुवाद करके काम चलता कर देते हैं। इन्हीं के बुलाने से विदेशी प्रत्यययुक्त विशेषण एक पर एक चले आ रहे हैं, ब्रिटिश के बाद फिनिश, पोलिश, स्वीडिश, स्काचिश आदि चुपचाप चले आए। 'अन' और 'इश' के साथ 'इक' तो आया ही, 'टिक' भी 'टिकटिक' करता आ पहुँचा। गाथिक, बोलशेविक एशियाटिक यहाँ तक कि बलियाटिक भी लिखने लगे। 'फिनिश' के बदले 'फिनी' क्यों न लिखा जाय ? 'एशियाटिक' को 'एशियाई' बनाए रखने में क्या हानि है ? विदेशी प्रत्ययों को तो एक ओर जिला रहे हैं, दूसरी ओर देशी प्रत्ययों को मार रहे हैं। इधर 'वाला' का ऐसा बोलबाला हुआ कि न जाने उसके कितने

भाई मारे गए। स्थानवाचक 'इया' कहाँ दिखाई देता है? कन-पुरिया, कलकतिया, मथुरिया कौन लिखता है? कानपुरवाले, कलकत्तेवाले, मथुरावाले ही सामने आते हैँ, पंडिताऊ ढंग से 'वासी' को चिपकाकर बने कानपुरवासी, कलकत्तावासी, मथुरा-वासी भी दिखाई दे जाते हैँ। 'वाला' और 'वासी' के बड़ेपन से घबराकर कदाचित् कुछ छोटे सीधे-सादे विदेशी प्रत्यययुक्त विशेषण रख दिये जाते हैँ। अगर और कोई रास्ता नहीँ है तो 'छुटाई' को छोड़कर 'बड़ाई' की ओर जाने मैँ क्या बुराई है? अतिप्रसंग हो गया! 'लिपि' की सीमा पार करके 'व्याकरण' के घर मैँ घुसना पड़ा!

अव्ययोँ मैँ जहाँ दो शब्द आते हैँ वहाँ प्रश्न होता है कि उन्हेँ सटाकर लिखा जाय या हटाकर। हिंदी मैँ दोनोँ पद्धतियोँ से लिखनेवाले हैँ। कोई 'इसलिए' लिखता है तो कोई 'इस लिए' कोई 'इसीलिए' लिखता है तो कोई 'इसी लिए'। हिंदी मैँ पहले, संस्कृत का 'अतः + एव' अलग-अलग 'अत एव' लिखा जाता था, पर अब 'अतएव' मिलाकर ही लिखा जाता है। वस्तुतः अव्यय मैँ शब्दोँ को पृथक् लिखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीँ है, क्योँकि अव्यय तो बना बनाया एक ही शब्द होता है। संस्कृत मैँ 'न हि' को 'नहि' रूप मैँ भी मिलाकर लिखते ही हैँ, जिसका बेटा 'नहीँ' हिंदी मैँ न जाने कब से भेदभाव छोड़ बैठा है।

वाक्य मैँ कुछ ऐसे प्रत्यय भी होते हैँ जो संबंध तो कई शब्दोँ से रखते हैँ, पर आते हैँ एक ही बार। ये जब एक ही शब्द के साथ आते हैँ तब इन्हेँ मिलाकर लिखने की परिपाटी है, पर वाक्य मैँ कई के साथ जुड़नेवाले होकर भी प्रायः अंतिम शब्द के साथ जोड़कर लिखे जाते हैँ, पृथक् नहीँ; जैसे, 'वाला' प्रत्यय को लीजिये। 'गाड़ीवाला', 'बैलवाला' आदि मिले हैँ।

'ईंट, पत्थर, लकड़ी और चूनेवालों को बुलाइए' में 'वालों' का संबंध सभी से है। 'चूनेवालों' में इसका जुड़ा होना ठीक नहीं, पर यह बहुधा जुड़ा रहता है। ऐसे अवसरों पर पृथक् लिखना ही अच्छा और ठीक जान पड़ता है। हिंदी की प्रवृत्ति व्यवहिति की ओर है इसका यह भी प्रमाण है।

यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि हिंदी लिखने-पढ़नेवालों को इसे लिखने-पढ़ने की भाषा समझकर ही लिखना-पढ़ना चाहिए। साथ ही लिखते-पढ़ते समय सदा यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिंदी 'हिंदी' है; न संस्कृत, न अरबी, न फारसी और न अँगरेजी। उर्दूवालों की नकल भी इसके लिए ठीक नहीं, जो धर्मशाला, दुविधा आदि को हिंदी की प्रवृत्ति के विरुद्ध पुलिंग में ही लिखते हैं। फिर भी अंत में इतना कह देना आवश्यक है कि हिंदी का संस्कृत की ओर झुकना स्वाभाविक ही नहीं आवश्यक भी है। प्रांतीय भाषाएँ जब संस्कृत की ओर जा रही हैं तो 'हिंदी' को उसकी ओर बढ़ना ही चाहिए, भले ही संबंध का अतिरेक वांछनीय न हो, पर उससे 'संबंध' ही नहीं 'सुसंबंध' बनाए रखना अनिवार्य है।